TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178412

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84 S96G Accession No. G.H. 3004

Author सूरजभान

Title गद्य-चयन १९५९

This book should be returned on or before the date last marked below.

मूल्य : एक रुपया पचास नये पैसे
चतुर्थ संस्करण : अप्रैल, १९५९
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

निबन्ध साहित्य

खड़ी बोली निबन्ध साहित्य का स्पष्ट रूप हमें भारतेन्दु-काल के निबन्धों में दिखाई देने लगता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संस्कृत-निष्ठ एवं फारसी-अरबी मिश्रित भाषा-सम्बन्धी अतिवादों से दूर रहकर, जनता की वाणी को पहचाना और खड़ी बोली में निबन्ध-रचना की।

भारतेन्दु जी की प्रेरणा से अनेक प्रतिभाशाली लेखक सामने आए। पर भाषा का पूर्ण परिमार्जन उस पीढ़ी के लेखक नहीं कर पाए। ब्रजभाषा का प्रभाव भी बना रहा और पंडिताऊपन से भी पीछा नहीं छूटा।

यह परिमार्जन आगे चलकर हिन्दी साहित्य में युग-प्रवर्त्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों सम्पन्न हुआ। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने हिन्दी-गद्य को सरल तथा कहानी कहने के-से ढंग में ढालकर एक निश्चित रूप देने की चेष्टा की। वस्तुतः हिन्दी-गद्य में जो कुछ भी एकरूपता आ सकी है, उसका बहुत बड़ा श्रेय द्विवेदी जी को है। द्विवेदी-युग के लेखकों में निम्नलिखित के नाम उल्लेखनीय हैं : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल, बालमुकुन्द गुप्त, सरदार पूर्णसिंह, बाबू गुलाबराय आदि।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अधिकतर पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं में प्राप्त ज्ञान को अपने लेखों में संकलित करके हिन्दी-पाठकों का ज्ञान बढ़ाते रहे। मौलिक चिन्तन से लिखे उनके निबन्धों की शैली रोचक है और उनमें आत्मीयता भी है।

बाबू गुलाबराय जी के संस्मरणात्मक निबन्ध विनोदमयी भाषा-शैली में सुन्दर बन पड़े हैं।

आचार्य शुक्ल एक भिन्न कोटि के निबन्धकार थे। उनके आलोचनात्मक और मनोभावात्मक निबन्ध अद्वितीय हैं।

द्विवेदी-युग के पश्चात् छायावादी युग में भावात्मक निबन्धों का ही अधिक विकास हुआ। विवरण सम्बन्धी निबन्ध भी इस युग में लिखे गए।

छायावादी युग के पश्चात् हिन्दी निबन्ध-साहित्य को नई दिशा में मोड़ने वालों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, जैनेन्द्रकुमार, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, वियोगीहरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अद्वितीय प्रतिभा के कलाकार हैं। उनकी सहज सांस्कृतिक चेतना, विद्वत्ता, प्रकाण्ड पांडित्य और सरल कविहृदय के कारण उनके निबन्धों में व्यापक चेतना और मानववादी स्वर मिलता है। जैनेन्द्रकुमार जी के निबन्ध अधिकांश दार्शनिक कोटि के हैं। श्री रायकृष्णदास और वियोगीहरि जी ने सुन्दर लघुकाय गद्य-काव्यमय

निबन्ध लिखे हैं। संस्मरणात्मक निबन्ध-लेखकों में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा आदि प्रमुख हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन और श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने अपने वर्णनात्मक निबन्धों में अपनी यात्राओं के विवरण चित्रित किये हैं। इन दोनों ही यात्रा-प्रेमी कला-साधकों ने उच्चकोटि का यात्रा-साहित्य हिन्दी को दिया है। कौसल्यायन जी के संस्मरण भी मनोहारी हैं।

प्रौढ़ साहित्यकारों में रसज्ञ शोधक श्री वासुदेवशरण अग्रवाल जी की पैनी सूझ लोक-हृदय के अन्तर तक पहुँची है। उन्होंने हमारी सनातन सांस्कृतिक एकता का दर्शन किया है। आचार्य अभयदेव उच्चकोटि के विद्वान् और आध्यात्मिक साधक हैं। उनकी साधना की छाप स्पष्ट रूप से उनके निबन्धों में दिखाई पड़ती है।

सरल भाषा, सीधा-सादा वर्णन निःसन्देह बाबू राजेन्द्र प्रसाद जैसा व्यक्तित्व ही दे सकता है। उनके 'गांव का जीवन' को पढ़कर पाठक ऐसा अनुभव करता है जैसे कि वह किसी गांव के आंगन में खड़ा है।

संत विनोबा जी की अपनी ही एक शैली है। उनके विश्लेषण और तथ्य-निरूपण में उनकी साधक दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है।

बोलचाल की-सी मीठी जोरदार भाषा जवाहरलाल जी की कृतियों की विशेषता है। दुनिया भर के राजनीतिक झंझटों के होते हुए भी जवाहरलाल जी ने अपनी प्रतिभा से साहित्य को समृद्ध किया है।

सेवाव्रती श्री वियोगी जी का दीन-दुखियों के प्रति करुणा भाव स्पृहणीय है। वे गद्य को भी काव्यमय रूप दे देते हैं।

अद्वितीय शब्द-शिल्पी श्री बेनीपुरी जी की लेखनी तो कमाल करती चली जाती है।

श्री प्रेमचन्द जी ने बचपन के अपने अभावों और कष्टों का ऐसा सजीव चित्रण किया है कि वह भी एक कहानी बन गई है।

श्री दिनकर ने भारत की विविध अनेकताओं में जिस एकता के दर्शन किये हैं, वह उनके गहन चिंतन और व्यापक दृष्टिकोण का सुफल है। श्री दिनकर जी ने कवि के रूप में प्रभूत यश अर्जन करने के पश्चात् अपनी कृतियों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि वे उच्चकोटि के गद्य-लेखक भी हैं।

श्रीमती सत्यवती मलिक के रेखाचित्र बहुत ही सजीव हैं। यद्यपि उन्होंने अधिक नहीं लिखा है पर गुण की दृष्टि से उनकी कृतियाँ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। गार्हस्थ्य के मधुर चित्र उनकी लेखनी के स्पर्श से सप्राण हो उठे हैं।

श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल उन सुलेखकों में से हैं, जिन्होंने जन-जीवन का पैनी दृष्टि से निरीक्षण किया है। उनकी दृष्टि में वे छोटी-छोटी सामाजिक बुराइयाँ, छोटी-छोटी भूलें, अपना महत्व रखती हैं, जिन्हें दूसरे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उनके प्रति वे हमें सचेत करते हैं। उनके निबन्धों की भाषा सरल और शैली प्रसादगुणयुक्त है।

निबन्धों के चयन में विभिन्न शैलियों और उनके प्रमुख

प्रकारों के संकलन का ध्यान तो रखा ही गया है, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि उनसे ज्ञान में वृद्धि के साथ शिक्षण के उद्देश्य की भी पूर्ति हो सके।

हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की श्रीवृद्धि दिनोंदिन होती जा रही है। साधक, विचारक अध्ययनशील विद्वान् अपनी-अपनी कृतियों से उसे समृद्ध कर रहे हैं। वह आधुनिक युग की प्रेरणाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में सब प्रकार से सक्षम है।

अन्त में हम उन सभी निबन्धकारों के प्रति कृतज्ञ हैं, जिनकी रचनाओं ने इस संकलन की श्री-वृद्धि की है।

—सम्पादक

निबन्ध-सूची

संस्मरणात्मक लेखक पृष्ठ

१. गांव का जीवन श्री राजेन्द्रप्रसाद ९
२. एक कुत्ता और एक मैना श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी २३
३. मेरा जीवन श्री प्रेमचन्द ३१

यात्रा-सम्बन्धी

४. तिब्बत की सीमा पर श्री राहुल सांकृत्यायन ४२
५. जापान में क्या देखा श्री भदन्त आनंद कौसल्यायन ५६

विचारात्मक

६. लोभ श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ६५
७. चरित्र-संगठन श्री बाबू गुलाबराय ७१
८. महात्मा गान्धी की जय श्री जवाहरलाल नेहरू ८१
९. अपाहिजों की सेवा श्री वियोगीहरि ९२
१०. 'समय नहीं मिला !' श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ९९

सांस्कृतिक

११. भारत एक है श्री दिनकर १०८
१२. सर्वोदय से क्या समझें ? श्री विनोबा भावे ११६
१३. धरती श्री वासुदेवशरण अग्रवाल १२३

रेखा-चित्र

१४. राष्ट्रमाता बा श्रीमती सत्यवती मलिक १३६
१५. दीनबन्धु ऐण्ड्रूज श्री बनारसीदास १४७
१६. नींव की ईंट श्री रामवृक्ष बेनीपुरी १६१
लेखक-परिचय सम्पादक १६९

१ गांव का जीवन

उन दिनों गांव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। जीरादेई और जमापुर दो गांव हैं, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिली-जुली है कि यह कहना मुश्किल है कि कहां जीरादेई खतम है और कहां से जमापुर शुरू है। इसलिए आबादी के लिहाज से दोनों गांवों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गांवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं। आबादी दो हज़ार से अधिक होगी। उन दिनों भी गांव में मिलने वाली प्रायः सभी चीज़ें वहाँ मिलती थीं। अब तो कुछ नये प्रकार की दुकानें भी हो गई हैं, जिनमें पान-बीड़ी भी बिकती हैं। उन दिनों ऐसी चीज़ें नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्बाकू और खैनी बिका करती थी। कपड़े की दुकानें अच्छी थीं; जहां से दूसरे गांव के लोग और कुछ बाहर के व्यापारी भी कपड़े ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहां सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दुकान दवा की भी थी, जिसमें हर्रे, बहेरा, पीपर इत्यादि की तरह की चीजें मिल सकती थीं। जहां तक मुझे याद है, केवल मिठाई की कोई दुकान नहीं थी। गांव में कोयरी लोगों की

काफी बस्ती है, इसलिए साग-सब्जी भी काफी मिलती थी। ग्रहीर कम थे, पर ग्रास-पास के गांवों में उनकी काफी ग्राबादी थी, इसलिए दही-दूध भी मिलते थे। चर्खे काफी चलते थे। गांव में जुलाहों की भी ग्राबादी थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियां बना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि बाहर से लाकर बेचते ग्रौर कुछ खुद भी बनाते। मुसलमानों में चुड़िहार, बिसाती, थवई (राज), दर्जी ग्रौर जुलाहे ही थे। कोई शेख-शैयद नहीं रहता था। हिंदुग्रों में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा ख़्याल है कि सबसे ग्रधिक बस्ती राजपूतों की ही थी। उनमें कुछ तो जमींदार वर्ग के थे जो पुराने खानदानी समझे जाते थे ग्रौर कुछ मामूली किसान-वर्ग के थे। कायस्थ जीरादेई में ही पांच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे ग्रौर दो सम्बन्ध के कारण बाहर से ग्राकर बस गये थे।

सब कुछ प्रायः गांव में ही मिल जाता था। इसलिए गांव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम मौका ग्राता था। गांव में हफ्ते में दो बार बाजार भी लगता था जहां कुछ ग्रास-पास के गांव के दुकानदार भी ग्रपना-ग्रपना माल-सौदा सिर पर ग्रथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। बाज़ार में मिठाई की दुकान भी ग्रा जाती थी ग्रौर जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी जरूरतें इस प्रकार पूरी नहीं होतीं, वे सीवान जाते। वहीं थाना ग्रौर मजिस्ट्रेट

थे—कचहरियां थीं और दुकानें भी थीं। वह एक कस्बा था, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों बहुत बड़ी जगह का रुतबा रखता था। मुझे याद है कि गांव में बाहर से सगे-संबंधियों के सिवा बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहां दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी किताबों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लू-ब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नीबू की टोकरी लिए बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना खुश होते कि मानों कुछ नायाब मिल गया। एक दिन ऐसा ही एक आदमी आया और मैं दौड़कर मां से कहने गया। वहां से दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में ज़ोर से किसी चीज़ की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और खून बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिह्न था। एक बार और किसी चीज़ के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका निशान तो आज तक दाहिनी आँख के नीचे गाल पर मौजूद है। गांव में फल—आम के दिनों में आम और मामूली तरह से कभी-कभी बाग के केले—मिल जाते थे। चचा साहब, जिनको हम लोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुले आम गुच्छों में नहीं बिका करते थे, काठ की छोटी पेटी में रुई के फाहे के बीच में रखकर बिकते थे और दाम भी काफी लगता था। गांव के लोग केवल आम और केले ही मौसम में पाते थे।

गांव में दो छोटे-मोटे मठ थे, जिनमें एक न एक साधु रहा करते थे। गांव के लोग उनको भोजन देते थे। और वह सुबह-शाम घड़ी-घंटा बजाकर आरती करते थे। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते थे। कभी-कभी हम लोग भी जाया करते थे और बाबाजी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज़ और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव में शरीक होते थे, व्रत रखते थे और दधिकांदों के दिन खूब दही-हल्दी एक दूसरे पर डालते थे। प्रायः हर साल कार्तिक में कोई न कोई पंडित आ जाते थे, जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी, उस दिन गांव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ न कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सब से बड़े समझे जाते थे। अक्सर कथा तो मेरे ही दरवाज़े पर हुआ करती थी। उसका सारा खर्च हमको ही देना पड़ता था। जब गांव में पंचायती कथा होती तब गांव भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुँचाते, उसमें मेरा घर भी शामिल रहता। हम बच्चे तो शायद ही कथा का कुछ ज्यादा अंश सुन पाते हों, क्योंकि मैं तो संझौत के बाद ही सो जाता; पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आश्विन में हुआ करती थी। रामलीला करने वाली

जमात कहीं से आ जाती और पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहल-पहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी बड़ी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसी की रामायण हाथ में लेकर कहता—"रामजी कहीं, हे सीता"—इत्यादि और रामजी वह दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता, उनको बताया जाता और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्त्तालाप में अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः १००-२०० गज में फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़-धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य में ही होता। उत्तर में रामजी का गढ़ और दक्खिन में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा पड़ती, उसका कुछ न कुछ स्वांग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम-विवाह, लंकाकांड के युद्ध और रामजी के अभिषेक—गद्दी पर बैठने के दिन—की होती। विवाह में तो हाथी-घोड़े मंगाए जाते और बरात की पूरी सजावट होती। लंका-दहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सचमुच जला दिये जाते। हनुमान बानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते, जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को वे सचमुच डरावने लगते। बानरों के कपड़े अक्सर लाल होते और निशाचरों के काले। राम-लक्ष्मण-जानकी के विशेष कपड़े होते और उनके सिंगार में प्रायः डेढ़-दो-घंटे लग जाते। लीला संध्या समय

४ बजे से ६ बजे तक होती। राम-लक्ष्मण मामूली लोगों की तरह नहीं चलते। उनके कदम बहुत ऊँचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको खास तालीम दी जाती थी। जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गांव-जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो नज़र के रूप में रामजी के चरणों में चढ़ाई जाती। लीला वालों को भोजन के अलावा नगद जो मिलना होता, उसी दिन मिलता। दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण-जानकी का शृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहां कि स्त्रियां परदे के कारण भीड़-भाड में लीला देखने नहीं जाया करतीं। वहां उनकी पूजा होती और उनपर रुपये चढ़ाये जाते।

एक चीज, जिसका असर मुझपर बचपन से ही पड़ा है, रामायण-पाठ है। गाँव में अक्षर-ज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था। उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गांव अथवा कहीं जवार-भर में नहीं था। मौलवी साहब इन लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे। गांव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहा थे, मगर कैथी लिखना जानते थे। मुड़कट्टी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि मन-सेर की बिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब शामिल है। उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी, जिसमें गाँव के कुछ लड़के पढ़ते थे। अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते थे, पर प्रायः प्रतिदिन संध्या के समय कुछ लोग कहीं न कहीं, मठ में या किसी दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण

की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। साथ में झाल और ढोलक भी बजाते थे। वन्दना का हिस्सा तो जब रामायण पाठ प्रारम्भ करते तो ज़रूर दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गांव में बहुतेरे ऐसे लोग थे, जो रामायण की चौपाइयां जानते और दुहरा सकते और विशेष करके वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः कण्ठस्थ रखते थे।

त्यौहारों में सबसे प्रसिद्ध होली है। उसमें अमीर-गरीब सभी शरीक होते थे। बसन्त-पंचमी के दिन से ही होली गाना शुरू होता। उसे गांव की भाषा में 'ताल उठाना' कहते थे। उस दिन से होली के दिन तक जहां-तहां झाल-ढोलक से साथ कुछ आदमी जमा होते और होली गाते। कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों में मुकाबला हो जाता और एक गीत एक गांव के लोग जैसे ही खतम करते, दूसरे गांव के लोग दूसरा शुरू करते। कभी-कभी गांव के आस-पास के दूसरे गांवों के लोग भी गोल बांधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे याद है कि एक बार दो गांवों में बाजी-सी लग गई और रात-भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गये, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता था, उसे काफी मेहनत पड़ती थी और वह पसीने-पसीने हो जाता था। एक गांव में ढोलक बजाने वाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथ में छाले पड़ गए; पर वह कहां रुकने वाला था, गांव की इज्जत जो चली जाती!

छाले उठे और फूट गए इस प्रकार रात भर में कई बार छाले उठे और फूटे, पर उसने गांव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता खतम होने पर सवेरे मालूम हुई और तब लोगों ने उसकी हिम्मत की सराहना की।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली-गलौज हुआ करता। उसमें बूढ़े, जवान और लड़के, सभी एक साथ शामिल होते। गांव के एक कोने से एक जमात चलती जो प्राय: हर दरवाज़े पर खड़ी होकर नाम ले-लेकर गालियां गाती और गन्दी मिट्टी और धूल-कीचड़ एक दूसरे पर डालती गांव के दूसरे सिरे तक चली जाती। यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज एक-बारगी उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नहीं जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक-दूसरे को गालियां सुनाते और एक दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ-सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नहीं बचती, मानो उसे भी कीचड़ लगाकर जाति में मिला लेना सभी अपना फर्ज़ समझते थे। यह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपूआ है। गरीब लोग भी किसी न किसी प्रकार कुछ प्रबन्ध कर ही लेते। भोजन के बाद दोपहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बांटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन खूब शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं। सौभाग्य से मैंने अपने गांव में यह कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहां शराब पीना पाप मानते हैं। कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं, पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो कोई शराब पियेगा, वह कोढ़ी हो जायगा। इसलिए वहां कायस्थों के घरों में भी शराब नहीं आई। बड़ों को देखकर छोटे भी परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी का जिक्र कर ही दिया, दीवाली भी अच्छी मनाई जाती थी। कुछ पहले ही से सब लोग अपने-अपने घरों को साफ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों में तेल लगाते। उन दिनों किरासन का तेल नहीं जलाया जाता था। शायद मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंडी का तेल ही जलाया जाता। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ न कुछ रोशनी जरूर करते। बड़े लोगों के मकानों पर बहुत दिये जलाये जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बांस की मेहराबें बनाई जातीं, रंग-बिरंग की तसवीरें दियों से बनाई जातीं, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो ये नक्शे बनाते और हम उनके बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल डालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मी पूजा होती। लक्ष्मीजी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद ही और सब जगहों में दिये जलाये जाते।

दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाममात्र के लिए कुछ कर लेते पर मैंने देखा कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती; पर यों तो कार्तिक-भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश में कंदील लटका कर दिये जलाया करते।

दशहरा तो खास करके जमींदारों का त्यौहार माना जाता था। पर नवरात्र में कभी-कभी कालीजी की पूजा हुआ करती थी। उसके लिए मूर्ति लाई जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गाँव में तो कालीपूजा नहीं देखी, पर जवार में कालीपूजा हुई, उसकी शोहरत सुनने पर हम बच्चे वहां दर्शन के लिए भेजे गए थे। वहां जाकर हमने काली का, जो सचमुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और खड्ग लिए हुए थी, दर्शन किया था। रामलीला में राजगद्दी भी प्रायः दशहरे के दिन या एक-दो दिन उसके आगे-पीछे हुआ करती थी। खास दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकंठ का दर्शन करते।

इनके अलावा एक और त्यौहार था, जिसमें सभी लोग शरीक होते थे। वह था अनन्त चतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद खीर-पूरी खाने की प्रथा थी और संध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नहीं पिया जाता था। इस व्रत में हम सब

बच्चे भी शरीक होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती, जो बच्चों के लिए बहुत मज़ाक की चीज़ होती। एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और थोड़ा जल उसमें पंडित लोग डाल देते। सभी कथा सुनने वाले उस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते, "क्या ढूंढ़ते हो ?" और लोग जवाब देते, "अनन्त फल।" तब फिर पंडित पूछते, "पाया ?" और उत्तर मिलता , "पाया।" पंडित कहते, "सिर पर चढ़ाओ।" और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गांठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बांह पर बांध लेते। हम बच्चों के लिए सुन्दर रंगीन, कभी-कभी रेशम का अनन्त पटहरे के यहां से खरीद करके आता। कोई-कोई सालभर बांह पर अनन्त बांधे रहते थे, इसलिए वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते, जिसमें वह सुभीते से बांधा जा सके। इस प्रकार जो अनन्त बांधता वह मांस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार जो तुलसी की लकड़ी की माला या कंठी पहनता, वह भी मांस-मछली नहीं खाता।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्यौहारों द्वारा गांव में धार्मिक जीवन हमेशा जगा रहता था। इनके अलावा मुहर्रम में ताजिया रखने का भी रिवाज था। उसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल होते थे। जीरादेई और जमापुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिए उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिये से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका,

लाठी, फरी वगैरा के खेल लोग करते और पहलाम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गांव-गांव के ताजिया कर्बला तक पहुंचाये जाते। तमाम रास्ते में 'या अली' 'या इमाम' के नारे लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते। बड़ा उत्साह रहता और उसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिचौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बांटी जाती। सभी उसे लेते और खाते, पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुलाकर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे कि यह हिन्दुओं का धरम है, इसलिए वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में शरीक होते, उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में शरीक होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रुपये मांगकर मौलवी साहब को देते। 'ईदी' कई दिन पहले से ही हम याद करते। कागज पर मौलवी साहब की मदद से सुन्दर फूल बना कर उसे लाल, हरे, नीले और बैंगनी रंगों से रंगते। उसी पर मौलवी साहब सुन्दर अक्षरों में 'ईदी' लिख देते, जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उसमें जो लिखा जाता, वह भी कुछ अजीब संमिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता 'दीवाले आमदे हंगाम जूला' इत्यादि, दशहरे की ईदी में लिखा जाता 'दशहरे को चले थे रामचन्द्र, बनाकर रूप जोगी वो कलंदर' इत्यादि। मुशाहरे के अलावा मौलवी साहब को प्रत्येक बृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और

त्यौहारों पर ईदी के बदले में, कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गांव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगड़े हुआ करते थे, गाँव में पंच लोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई तो वह मेरे बाबा या चाचा साहब के सामने पेश होती। वे लोग भी पंचायत में शरीक होकर तय करा देते। हाँ, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी। बनिया कुछ सम्पन्न थे। उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठ ले जाया करते। एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गाँव के बाजार से लौटते वक्त सन्ध्या को रास्ते में डाकू ने पैसे और कपड़े लूट लिये थे। जब कभी ऐसा वाक़या होता, थाने से दारोगा और सिपाही पहुँचते और गाँव में एक-दो दिन ठहर जाते। उनका गांव में आना एक बड़ा हंगामा था। सारे गाँव में सनसनी फैल जाती, जिन लोगों पर शुबहा होता, उनके घर की तलाशी ली जाती। दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में मशहूर था कि वे चोर हैं। दारोगा पहुँचते ही उनको पकड़कर मुश्कें कसकर बांधकर गिरा देते और खूब पीटते। आस-पास के गाँवों के भी लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़कर मंगाये जाते और बांधकर गिरा दिये जाते। मैंने देखा कि इस तरह एक साथ पाँच-सात आदमी बांधकर गिराये जाते थे और घंटों तक पड़े रहते थे।

हम लोगों की छोटी-सी जमींदारी थी। रैयतों के साथ मुकदमे तो कम होते, शायद ही कभी कचहरी में जाने की ज़रूरत होती। मगर एक दूसरे जमींदार के साथ, जिनका भी

हिस्सा एक गांव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिए मुकदमा चलता रहा। बाबा के समय से शुरू होकर पिताजी के जमाने भर चलता रहा और उनकी मृत्यु के बाद भाई ने उसे सुलह करके तय किया। नूनू छपरे जाया करते और भाई, जो छपरे पढ़ने के लिए भेज दिए गये थे, उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते।

२ एक कुत्ता और एक मैना

आज से कई वर्ष पहले गुरुदेव के मन में आया कि शान्तिनिकेतन को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाएं। स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं था। शायद इसलिए या पता नहीं क्यों, तय पाया कि वे श्रीनिकेतन के पुराने तिमंजिले मकान में कुछ दिन रहें। शायद मौज में आकर ही उन्होंने यह निर्णय किया हो। सबसे ऊपर के तल्ले में रहने लगे। उन दिनों ऊपर तक पहुँचने के लिए लोहे की चक्करदार सीढ़ियाँ थीं, और वृद्ध, क्षीण-वपु रवीन्द्रनाथ के लिए उन पर चढ़ सकना असम्भव था। फिर भी बड़ी कठिनाई से उन्हें वहाँ लाया जा सका।

उन दिनों छुट्टियाँ थीं। आश्रम के अधिकांश लोग बाहर चले गये थे। एक दिन हमने सपरिवार उनके 'दर्शन' की ठानी। 'दर्शन' को मैं जो यहां विशेष रूप से दर्शनीय बनाकर लिख रहा हूँ, उसका कारण यह है कि गुरुदेव के पास जब कभी मैं जाता था तो प्रायः वे यह कहकर मुस्करा देते थे कि 'दर्शनार्थी है क्या ?' शुरू-शुरू में मैं उनसे ऐसी बंगला में बात

करता था, जो वस्तुत: हिन्दी-मुहाविरों का अनुवाद हुआ करती थी। किसी बाहर के अतिथि को जब मैं उनके पास ले जाता था तो कहा करता था—'एक भद्रलोक आपनार दर्शनेर जन्य ऐसे छेन।' यह बात हिन्दी में जितनी प्रचलित है, उतनी बंगला में नहीं। इसलिए गुरुदेव जरा मुस्करा देते थे। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मेरी यह भाषा बहुत अधिक पुस्तकीय है और गुरुदेव ने उस 'दर्शन' शब्द को पकड़ लिया था। इसलिए जब कभी मैं असमय में पहुंच जाता था तो वे हंसकर पूछते थे—'दर्शनार्थी लेकर आये हो क्या ?' यहाँ यह दुःख के साथ कह देना चाहता हूँ कि अपने देश के दर्शनार्थियों में कितने ही इतने प्रगल्भ होते थे कि समय-असमय, स्थान-अस्थान, अवस्था-अनावस्था की एकदम परवाह नहीं करते थे और रोकते रहने पर भी आ ही जाते थे। ऐसे 'दर्शनार्थियों' से गुरुदेव कुछ भयभीत-से रहते थे। सो मैं मय बाल-बच्चों के एक दिन श्रीनिकेतन जा पहुँचा। कई दिनों से उन्हें देखा नहीं था।

गुरुदेव वहां बड़े आनन्द में थे। अकेले रहते थे। भीड़-भाड़ उतनी नहीं होती थी, जितनी शांतिनिकेतन में। जब हम लोग ऊपर गए तो गुरुदेव बाहर एक कुर्सी पर चुपचाप बैठे अस्तगामी सूर्य की ओर ध्यान-स्तमित नयनों से देख रहे थे। हम लोगों को देखकर मुस्कराये, बच्चों से जरा छेड़-छाड़ की, कुशल-प्रश्न पूछे और फिर चुप हो रहे। ठीक उसी समय उनका कुत्ता धीरे-धीरे ऊपर आया और उनके पैरों के पास खड़ा होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। वह आँखें मूँदकर अपने रोम-रोम से उस स्नेह-रस का

अनुभव करने लगा। गुरुदेव ने हम लोगों की ओर देखकर कहा—'देखा तुमने ये आ गए। कैसे इन्हें मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ, आश्चर्य है। और देखो, कितनी परितृप्ति इनके चेहरे पर दिखाई दे रही है।'

हम लोग उस कुत्ते के आनन्द को देखने लगे। किसी ने उसे राह नहीं दिखाई थी, न उसे यह बताया था कि उसके स्नेहदाता यहां से दो मील दूर हैं और फिर भी वह पहुँच गया! इसी कुत्ते को लक्ष्य करके उन्होंने 'आरोग्य' में इस नाम की एक कविता लिखी थी—'प्रतिदिन प्रातःकाल यह भक्त कुत्ता स्तब्ध होकर आसन के पास तब तक बैठा रहता है, जब तक अपने हाथों के स्पर्श से मैं इसका संग नहीं स्वीकार करता। इतनी-सी स्वीकृति पाकर ही उसके अंग-अंग में आनन्द का प्रवाह बह उठता है। इस वाक्यहीन प्राणि-लोक में सिर्फ यही एक जीव अच्छा-बुरा सब को भेदकर सम्पूर्ण मनुष्य को देख सका है, उस आनन्द को देख सका है, जिसे प्राण दिया जा सकता है, जिसमें अहेतुक प्रेम ढाल दिया जा सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्य-लोक में राह दिखा सकती है। जब मैं इस मूक-हृदय का प्राणपण आत्मनिवेदन देखता हूं, जिसमें वह अपनी दीनता बताता रहता है, तब मैं यह सोच ही नहीं पाता कि उसने अपने सहज बोध से मानवस्वरूप में कौन-सा अमूल्य आविष्कार किया है, इसकी भाषाहीन दृष्टि की करुण व्याकुलता जो कुछ समझती है, उसे समझा नहीं पाती, और मुझे इस सृष्टि में मनुष्य का सच्चा परिचय समझा देती है!' इस प्रकार कवि की मर्मभेदी दृष्टि ने इस भाषाहीन प्राणी की

करुण दृष्टि के भीतर उस विशाल मानव-सत्य को देखा है, जो मनुष्य के अन्दर भी नहीं पाया जाता।

मैं जब यह कविता पढ़ता हूँ तब मेरे सामने श्रीनिकेतन के तितल्ले पर की वह घटना प्रत्यक्ष-सी हो जाती है। वह आँख मूँदकर अपरिसीम आनन्द, वह मूक हृदय का प्राणपण आत्म-निवेदन, मूर्तिमान् हो जाता है। उस दिन मेरे लिए वह एक छोटी-सी घटना थी, आज वह विश्व की अनेक महिमाशाली घटनाओं की श्रेणी में बैठ गई है। एक आश्चर्य की बात और इस प्रसंग में उल्लेख की जा सकती है। जब गुरुदेव की चिता-भस्म कलकत्ते से आश्रम में लाई गई, उस समय भी न जाने किस सहज-बोध के बल पर वह कुत्ता आश्रम के द्वार तक आया और चिताभस्म के साथ, अन्यान्य आश्रमवासियों के साथ शान्त-गम्भीर भाव से उत्तरायण तक गया। आचार्य क्षिति-मोहन सेन सबके आगे थे। उन्होंने मुझे बताया है कि वह चिताभस्म के कलश के पास थोड़ी देर चुपचाप बैठा भी रहा था।

कुछ और पहले की घटना याद आ रही है। उन दिनों मैं शान्तिनिकेतन में नया ही आया था। गुरुदेव से अभी उतना धृष्ट नहीं हो पाया था। गुरुदेव उन दिनों सुबह अपने बगीचे में टहलने के लिये निकला करते थे। एक दिन उनके साथ हो लिया था। मेरे साथ एक और पुराने अध्यापक थे, और सही बात तो यह है कि उन्होंने ही मुझे भी अपने साथ ले लिया था। गुरुदेव एक-एक फूल-पत्ते को ध्यान से देखते हुए अपने बगीचे में टहल रहे थे और उक्त अध्यापक महाशय से बातें

करते जा रहे थे। मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। गुरुदेव ने बातचीत के सिलसिले में एक बार कहा—'अच्छा साहब, आश्रम के कौए क्या हो गए ? उनकी आवाज़ सुनाई ही नहीं देती ?' न तो मेरे साथी उन अध्यापक को यह खबर थी और न मुझे ही। बाद में मैंने लक्ष्य किया कि सचमुच कई दिनों से आश्रम में कौए नहीं दीख रहे हैं। मैंने तब तक कौओं को सर्वव्यापक पक्षी ही समझ रखा था। अचानक उस दिन मालूम हुआ कि ये भले आदमी भी कभी-कभी प्रवास को चले जाते हैं या चले जाने को बाध्य होते हैं। एक लेखक ने कौओं की आधुनिक साहित्यिकों से उपमा दी है, क्योंकि इनका मोटो है—'मिस्चिफ़ फ़ार मिस्चिफ़्स सेक' (शरारत के लिए ही शरारत)। तो क्या कौओं का प्रवास भी किसी शरारत के उद्देश्य से ही था ? प्रायः एक सप्ताह के बाद बहुत कौए दिखाई दिए।

एक दूसरी बार मैं सवेरे गुरुदेव के पास उपस्थित था। उस समय एक लंगड़ी मैना फुदक रही थी। गुरुदेव ने कहा—'देखते हो, यह यूथभ्रष्ट है। रोज फुदकती है, ठीक यहीं आकर। मुझे इसकी चाल में एक करुण भाव दिखाई देता है।' गुरुदेव ने अगर कह न दिया होता तो मुझे उसका करुण-भाव एकदम नहीं दीखता। मेरा अनुभव था कि मैना करुण-भाव दिखाने वाला पक्षी है ही नहीं। वह दूसरों पर अनुकम्पा ही दिखाया करती है। तीन-चार वर्ष से मैं एक नये मकान में रहने लगा हूं। मकान के निर्माताओं ने दीवारों में चारों ओर एक-एक सूराख छोड़ रखा है—यह कोई आधुनिक वैज्ञानिक

खतरे का समाधान होगा। सो एक न एक मैना-दम्पति नियमित भाव से प्रतिवर्ष यहां गृहस्थी जमाया करते हैं। तिनके और चिथड़ों का अम्बार लगा देते हैं। भले मानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते। हैरान होकर हम सूराखों में ईंटें भर देते हैं; परन्तु वे खाली बची जगह का भी उपयोग कर लेते हैं। पति-पत्नी जब कोई एक तिनका लेकर सूराख में रखते हैं तो उनके भाव देखने लायक होते हैं। पत्नीदेवी का तो क्या कहना! एक तिनका ले आई तो फिर एक पैर पर खड़ी होकर ज़रा पंखों को फटकार दिया, चोंच को अपने ही पैरों से साफ कर लिया और नाना प्रकार की मधुर और विजयोद्घोषी वाणी में गान शुरू कर दिया। हम लोगों की तो उन्हें कोई परवाह ही नहीं रहती। अचानक इसी समय अगर पति देवता भी कोई कागज़ या गोबर का टुकड़ा लेकर उपस्थित हुए तब तो क्या कहना! दोनों के नाच-गान और आनन्द-नृत्य से सारा मकान मुखरित हो उठता है। इसके बाद ही पत्नीदेवी ज़रा हम लोगों की ओर मुखातिब होकर लापरवाही भरी अदा से कुछ बोल देती हैं। पति देवता भी मानो मुस्कराकर हमारी ओर देखते, कुछ रिमार्क कसते और मुँह फेर लेते हैं। पक्षियों की भाषा तो मैं नहीं जानता, पर मेरा निश्चित विश्वास है कि उनमें कुछ इस तरह की बातें हो जाया करती हैं—

पत्नी—ये लोग यहाँ कैसे आ गए जी?

पति—उँह, बेचारे आ गए हैं, तो रह जाने दो। क्या कर लेंगे?

पत्नी—लेकिन फिर भी इनको इतना तो ख्याल होना चाहिये कि यह हमारा प्राइवेट घर है ।

पति—आदमी जो हैं, इतनी अक़ल कहाँ ?

पत्नी—जाने भी दो ।

पति—और क्या ?

सो इस प्रकार की मैना कभी करुण हो सकती है, यह मेरा विश्वास ही नहीं था । गुरुदेव की बात पर मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि सचमुच ही उसके मुख पर एक करुणभाव है । शायद यह विधुर पति था, जो पिछली स्वयंवर-सभा के युद्ध में आहत और परास्त हो गया था । या विधवा पत्नी है, जो पिछले बिडाल के आक्रमण के समय पति को खोकर, युद्ध में चोट खाकर एकान्त-विहार कर रही है । हाय, क्यों इसकी ऐसी दशा है ! शायद इसी मैना को लक्ष्य करके गुरुदेव ने बाद में एक कविता लिखी थी, जिसके कुछ अंश का सार इस प्रकार है—

'उस मैना को क्या हो गया है, यही सोचता हूँ । क्यों वह दल से अलग होकर अकेली रहती है ? पहले दिन देखा था, सेमर के पेड़ के नीचे मेरे बगीचे में । जान पड़ा जैसे एक पैर से लंगड़ा रही हो । इसके बाद उसे रोज़ सवेरे देखता हूँ—संगीहीन होकर कीड़ों का शिकार करती फिरती है । चढ़ आती है बरामदे में । नाच-नाचकर चहलकदमी किया करती है, मुझसे ज़रा भी नहीं डरती । क्यों है ऐसी दशा इसकी ? समाज के किस दण्ड पर उसे निर्वासन मिला है, किस अपराध पर उसने यह सब मान लिया है ? कुछ ही दूरी पर और

मैनाएँ बकझक कर रही हैं, घास पर उछल-कूद रही हैं, उड़ती फिरती हैं शिरीष वृक्ष की शाखाओं पर। पर इस बेचारी को ऐसा कुछ भी शौक नहीं है। इसके जीवन में कहाँ गाँठ पड़ी है, यही सोच रहा हूँ। सवेरे की धूप में मानो सहज मन से आहार चुगती हुई झड़े हुए पत्तों पर कूदती फिरती है सारा दिन। किसी के ऊपर इसका कुछ अभियोग है, यह बात बिलकुल नहीं जान पड़ती, इसकी चाल में वैराग्य का गर्व भी तो नहीं है, दो आग-सी जलती आँखें भी तो नहीं दीखतीं।' इत्यादि।

जब मैं इस कविता को पढ़ता हूँ तो उस मैना की करुण-मूर्ति अत्यन्त साफ होकर सामने आ जाती है। कैसे मैंने उसे देखकर भी नहीं देखा और किस प्रकार कवि की आँखें इस विचार के मर्मस्थल तक पहुँच गईं। सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। एक दिन वह मैना उड़ गई। सायंकाल कवि ने उसे नहीं देखा। 'जब वह अकेले जाया करती है, उस डाल के कोने में, जब झींगुर अन्धकार में झनकारता रहता है, जब हवा में बांस के पत्ते झरझराते रहते हैं, पेड़ों की फांक से पुकारा करता है नींद तोड़ने वाला सन्ध्यातारा। कितना करुण है उसका गायब हो जाना।'

३ मेरा जीवन

मेरा जन्म संवत् १९३७ में हुआ। पिता डाकखाने में क्लर्क थे, माता मरीज। एक बड़ी बहन भी थी। उस समय पिता जी शायद २० रु० पाते थे। ४० रु० तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। यों वे बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गए और खुद तो गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल भर बाद ही परलोक सिधारे। उस समय मैं नवें दर्जे में पढ़ता था। घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थी, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूंजी थी, वह पिता जी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था वकील बनने का और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस जमाने में भी इतनी ही दुष्प्राप्य थी जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस-बारह की कोई

जगह पा जाता, पर यहाँ तो आगे पढ़ने की धुन थी ।

पांव में जूते न थे, देह पर कपड़े न थे, महंगी अलग । १० सेर के जौ थे । स्कूल मे साढे तीन बजे छुट्टी मिलती थी । काशी के क्विन्स कॉलेज में पढ़ता था । हैडमास्टर ने फ़ीस माफ कर दी थी । इम्तिहान सिर पर था और मैं बांस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था । जाड़ों के दिन थे, चार बजे पहुँचता था । पढ़ाकर छ: बजे छुट्टी पाता । वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था । तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता और प्रातःकाल आठ ही बजे से पहले घर से चलना पड़ता था । कभी वक्त पर स्कूल न पहुंचता । रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता । फिर भी हिम्मत बांधे हुए था ।

मैट्रिक्युलेशन तो किसी तरह पास हो गया, पर आया सेकिंड डिवीजन में और क्विन्स कॉलेज में भरती होने की आशा न रही । फीस केवल अव्वल दर्जे वालों की ही मुआफ हो सकती थी । संयोग मे उसी साल हिन्दू कॉलेज खुल गया था । मैंने इस नए कॉलेज में पढ़ने का निश्चय किया । प्रिंसिपल थे मि० रिचर्डसन । उनके मकान पर गया । वे पूरे हिन्दुस्तानी वेश में थे । कुरता और धोती पहने हुए फर्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे । मगर मिज़ाज को तबदील करना इतना आसान न था, मेरी प्रार्थना सुनकर—आधी ही कहने पाया था—बोले कि घर पर मैं कॉलेज की बातचीत नहीं करता, कॉलेज में आओ । खैर, मैं कॉलेज में गया । मुलाकात तो हुई, पर निराशाजनक । फ़ीस मुआफ न हो सकती थी । अब क्या

करूँ ? अगर प्रतिष्ठित सिफारिशें ला सकता तो मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता, लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था !

रोज़ घर से चलता कि कहीं से सिफारिश लाऊं, पर बारह मील की मंजिल पारकर शाम को घर लौट जाता। किससे कहूँ ? कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों बाद सिफारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह हिन्दू कॉलेज की प्रबन्धकारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गई। सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिंसिपल से मिलने का इरादा था, लेकिन घर पहुँचते ही मुझे ज्वर आ गया और दो सप्ताह से पहले न हिला। नीम का काढ़ा पीते-पीते नाक में दम आ गया। एक दिन मैं द्वार पर बैठा था कि मेरे पुरोहित जी आ गए। मेरी दशा देखकर समाचार पूछा और तुरन्त खेतों में जाकर एक जड़ खोद लाए और उसे धोकर सात दाने काली मिर्च के साथ मिलवाकर मुझे खिला दिया। उसने जादू का असर किया। ज्वर चढ़ने में घंटे ही भर की देर थी। इस औषध ने मानो जाकर उसका गला ही दबा दिया। मैंने बार-बार पण्डित जी से उस जड़ी का नाम पूछा, पर उन्होंने न बताया। कहा, नाम बता देने से उसका असर जाता रहेगा।

एक महीने बाद मैं फिर मि० रिचर्डसन से मिला और सिफारिशी चिट्ठी दिखाई। प्रिंसिपल ने मेरी ओर तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा—"इतने दिन कहाँ थे ?"

"बीमार हो गया था।"

"क्या बीमारी थी ?"

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हलकी चीज़ थी, जिसके लिए इतनी लम्बी ग़ैर-हाजिरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए जो अपनी कष्ट-साध्यता के कारण दया भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह से जब मैं सिफारिश के लिए मिला था तब उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चरचा की थी। वह शब्द याद आ गया। मैंने कहा—"पेलपिटेशन आफ हार्ट (दिल की धड़कन) सर !"

"अब तुम बिल्कुल अच्छे हो ?"

"जी, हाँ।"

"अच्छा, प्रवेश-पत्र भर कर लाओ।"

मैंने समझा, बेड़ा पार हुआ। फार्म लिया, खानेपुरी की और पेश कर दिया। साहब उस सयम कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फार्म वापस मिला। उस पर लिखा था—इसकी योग्यता की जाँच की जाय।

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अंग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में मुझे पास होने की आशा न थी, और बीजगणित से मेरी रूह काँपती थी। जो कुछ याद था वह भी भूल गया था, परन्तु दूसरा उपाय ही क्या था ! भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फार्म

दिखाया। प्रोफेसर साहब बंगाली थे। अंग्रेज़ी पढ़ा रहे थे। वाशिंगटन इर्विंग का 'रिप वान विंकल' था। मैं पीछे ही कतार में जाकर बैठ गया और दो-ही-चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घंटा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और मेरे फार्म पर 'संतोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था। यह प्रोफेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फार्म दिखाया। नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र जाते हैं, जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी यही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया, वही भरती हो गया। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिए जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फेल हो गया। फार्म पर गणित के खाने में असन्तोषजनक लिख दिया।

इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधा घर चला गया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर चढ़ न सका। इन्टरमीडिएट में दो बार गणित में फेल हुआ और निराश होकर इम्तहान देना छोड़ दिया। दस-बारह साल के बाद जब गणित की परीक्षा अख्तियारी हो गई, तब मैंने दूसरे विषय लेकर आसानी से पास कर लिया। उस समय यूनिवर्सिटी के इस नियम ने कितने युवकों की आकांक्षाओं का खून किया, कौन कह सकता है। खैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता?

किस तरह गणित को सुधारूँ और फिर कॉलेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना ज़रूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपये वेतन ठहरा। मैंने दो रुपए में अपना गुज़र करके तीन रुपए घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की मैंने आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा लिया। बाज़ार से एक छोटा-सा लैम्प ले आया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-मांजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ दर का 'फिसाना आजाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकांता-संतति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले। जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मेट्रिक्युलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफारिश से यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब जरूरत होती पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते, मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान की ओर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और दो-ढाई रुपए दे आता। दूसरे दिन से उधार लेना शुरू कर देता, लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और

दिन-का-दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता ।

जाड़ों के दिन थे । पास एक कौड़ी न थी । दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे । मेरे महाजन ने उधार देने से इन्कार कर दिया था, या संकोचवश मैं उससे मांग न सका था । चिराग जल चुके थे । मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया । चक्रवर्ती गणित की कुञ्जी थी । दो साल हुए खरीदी थी । अब तक उसे बड़े जतन से रक्खे हुए था । पर आज चारों ओर से निराश होकर मैंने उसे बेचने का निश्चय किया । किताब दो रुपए की थी । लेकिन एक रुपए पर सौदा ठीक हुआ । मैं रुपया लेकर दुकान पर से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछों वाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दुकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा—"तुम यहाँ कहाँ पढ़ते हो ?"

मैंने कहा—"पढ़ता तो कहीं नहीं हूँ, पर आशा करता हूँ कि कहीं नाम लिखा लूँगा ।"

"मैट्रिक्युलेशन पास हो ?"

"जी हाँ ।"

"नौकरी करने की इच्छा तो नहीं है ?"

"नौकरी कहीं मिलती ही नहीं !"

वे सज्जन स्कूल के हैडमास्टर थे । उन्हें एक सहकारी अध्यापक की जरूरत थी । अठारह रुपए वेतन था । मैंने स्वीकार कर लिया । अठारह रुपये उस समय मेरी निराशा-व्यथित कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे । मैं दूसरे दिन हैडमास्टर से मिलने का वादा करके चला, तो पांव

ज़मीन पर न पड़ते थे। यह सन् १८९९ की बात है।

मैंने पहले-पहल सन् १९०७ में गल्पें लिखनी शुरू कीं। डा० रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंगेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू-पत्रिकाओं में छपाया था। उपन्यास तो मैंने १९०१ ही से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला और दूसरा १९०४ में, लेकिन गल्प १९०७ से पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था—'संसार का सबसे अमोल रत्न'; वह १९०७ के 'जमाना' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियां और लिखीं। पांच कहानियों का संग्रह 'सोजेवतन' के नाम से १९०७ में छपा। इन पांचों कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गायी गई थी।

उस वक्त मैं शिक्षा-विभाग में डिप्टी-इन्स्पेक्टर था और हमीरपुर जिले में तैनात था। पुस्तक को छपे छ: महीने हो चुके थे। एक दिन मैं अपनी रावटी में बैठा हुआ था कि मेरे नाम जिलाधीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरन्त मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाड़ी जुतवाई और रातोंरात ३०-४० मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोजेवतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक्त मैं नवाबराय के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका पता कुछ-कुछ मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज में है। मैं समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला है और उसीकी जवाबदेही करने के लिए बुलाया है।

साहब ने मुझसे पूछा—"यह पुस्तक तुमने लिखी है?"

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अन्त में बिगड़कर बोले—"तुम्हारी कहानियों में राजद्रोह भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी राज्य में हो। मुग़लों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी हैं, तुमने अंग्रेज़ी सरकार की तौहीन की है," आदि। फैसला यह हुआ कि 'सोजेवतन' की सारी प्रतियों को सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो, सस्ते छूटे। एक हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुश्किल से ३०० बिकी थीं। शेष ७०० प्रतियाँ मैंने 'ज़माना' कार्यालय से मँगवाकर साहब की सेवा में अर्पित कर दीं।

तब मैंने अपना तबादला कराया। चाहता था रुहेलखण्ड पर पटका गया बस्ती के ज़िले में, और हल्क़ा वह मिला जो नेपाल की तराई है। सौभाग्य से वहीं मेरा परिचय स्वर्गीय पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ जो डोमरियागंज में तहसीलदार थे। कभी उनके साथ साहित्य-चर्चा हो जाती थी, परन्तु यहाँ आकर मेरी पेचिश की पुरानी बीमारी और बढ़ गई। तब मैंने छः महीने की छुट्टी ली, और लखनऊ के मेडिकल कालेज से निराश होकर काशी के एक हकीम से इलाज कराने लगा। तीन-चार महीने बाद कुछ थोड़ा-सा फायदा तो मालूम हुआ पर बीमारी जड़ से न गई। जब फिर बस्ती पहुँचा तो वही हालत हो गई। तब मैंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती हाई स्कूल में स्कूल मास्टर ही हो गया। फिर वहाँ

से तबदील होकर गोरखपुर पहुँचा। पेचिश पूर्ववत् जारी रही। यहाँ मेरा परिचय महावीरप्रसादजी पोद्दार से हुआ जो साहित्य के मर्मज्ञ, राष्ट्र के सच्चे सेवक और बड़े ही उद्योगी पुरुष हैं। मैंने बस्ती में ही कई गल्पें छपवाई थीं। पोद्दार जी की प्रेरणा से मैंने फिर एक उपन्यास लिखा और 'सेवासदन' की सृष्टि हुई। वहीं मैंने प्राइवेट बी० ए० भी पास किया। सेवासदन का जो आदर हुआ, उससे उत्साहित होकर मैंने 'प्रेमाश्रम' लिख डाला और गल्पों को भी बराबर लिखता रहा।

एक दिन बाज़ार में श्री दशरथप्रसाद जी द्विवेदी, संपादक 'स्वदेश' से भेंट हुई। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा—"बाबू जी, आप बिल्कुल पीले पड़ गये हैं, कोई इलाज कराइए।"

मुझे अपनी बीमारी का ज़िक्र बहुत बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही की ज़िन्दगी का नाता है, तो क्यों न हँसकर मरूँ ? मैंने चिढ़ कर कहा—मर ही तो जाऊँगा भाई, या और कुछ ? मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। द्विवेदी जी बेचारे लज्जित हो गए। मुझे पीछे अपनी उग्रता पर बड़ा खेद हुआ। यह १९२० की बात है। असहयोग आन्दोलन ज़ोरों पर था। जलियांवाला बाग का हत्याकांड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। गाजी मियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती

थी। ऐसा समारोह मैंने जीवन में कभी न देखा था। महात्माओं के दर्शनों का प्रताप यह था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से स्तीफा दे दिया।

अब देहात में चलकर प्रचार करने की इच्छा हुई। पोद्दार जी का देहात में एक मकान था। हम और वे दोनों वहां चले गये और चर्खे बनवाने लगे। वहाँ जाने के एक ही सप्ताह बाद मेरी पेचिश कम होने लगी। फिर मैं काशी चला आया और अपने देहात में बैठकर प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन को सार्थक करने लगा। गुलामी से मुक्त होते ही मैं नौ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।

४

तिब्बत की सीमा पर

लदाख के तहसीलदार ने मेहरबानी करके अपने चपरासी गंगाराम तथा एक मुहर्रिर को मेरे साथ कर दिया था। हम लोग घोड़े पर शाम के वक्त खर्दोङ् की ओर चले। लदाख से चीनी तुर्किस्तान का रास्ता इधर ही से जाता है, इसलिए रास्ते की मरम्मत होती रहती है। जगह-जगह सरायें भी मुसाफिरों के लिए हैं। हम लोग गाँव से बहुत ऊपर जोत (पास) के ३, ४ मील रह जाने पर ठहरे। अब मैं दिल्ली की तरह एक कम्बल से जाड़े को नाप-बांध नहीं सकता था, इस लिए जाड़े के लिए श्रीनगर से लेकर चले ऊनी कपड़ों में भी यहाँ काफी वृद्धि कर ली थी। पैरों में यारकन्दी पप्पू जूता और उसके भीतर नम्दे का मोजा सोते वक्त भी पड़ा था, तम्बू के भीतर मैं कनटोप के ऊपर ऊनी चादर से सारे मुँह-कान व शिर को ढांके, देह पर चुकटू, लोई आदि ओढ़े सोया था, तो भी वहाँ ज़बर्दस्त सर्दी थी।

मैं और दोनों साथी घोड़ों पर चढ़े और बेगार वाले

किसानों के साथ दो बजे रात को ही चल पड़े। लदाख में बर्फ के जोतों को पार करने का यही उचित समय समझा जाता है, जिससे कि धूप निकलने से पहले बर्फ का रास्ता खतम हो जावे। धूप चढ़ने पर बर्फ के नरम होने से आदमियों और जानवरों के पैर धँसने लगते हैं और उनके दरार में फंस जाने का डर रहता है। साथ ही आस-पास की ऊँची जगहों में लाखों मन की हिमानियों के गिरने का डर भी रहता है। थोड़ी दूर तक नाले के किनारे से हमें साधारण चढ़ाई चढ़नी थी, किन्तु अब भी हम १४००० फुट से ऊपर चढ़ रहे थे, और यदि घोड़े पर न होते, तो आटा-चावल का भाव मालूम हो जाता। फिर असली चढ़ाई शुरू हुई। घोड़े अब हर दस-दस कदम पर सांस लेने के लिए रुक जाते। थोड़ी देर बाद हम श्वेत बर्फ के फर्श पर चलने लगे। चांदनी रात में बर्फ खूब चमक रही थी। पतली हवा के कारण साँस लेने और पैरों के उठाने में किसीको बात करने की फुर्सत न थी, और उस सन्नाटे में सिर्फ जानवरों की साँस की आवाज सुनाई देती थी। चढ़ाई के श्रम को हलका करने के लिए घोड़े गोमूत्रिका बनाते हुए टेढ़े रास्ते से चल रहे थे, हाँफने से उनका पेट फूल-पचक रहा था, और पीछे का सारा शरीर, मालूम होता था, मुँह को ढकेलकर पैरों से आगे खींच ले जावेगा। जानवरों के कष्ट को देखकर हम उन्हें अपने मन से चलने देते थे। आमतौर से थोड़ी देर रुकने के बाद वे खुद चल देते थे, नहीं तो जरा सा लगाम का इशारा कर देना पड़ता था। लदाखियों ने अपने कनटोप के ऊपर उठे हुए कनौटे को नीचे गिरा कानों

को ढांक लिया था। और मैं ?—मैंने तो जो रात को मंकीकैप से आँख-कान छोड़कर सारे शिर और गर्दन को ढांका था, और ऊपर से ऊनी चादर बांधी थी, उसे ज़रा सी भी न हटाया था। कश्मीर से आते वक्त तीन जोतों को पार करते हुए मैंने देख लिया था कि कैसे इस ऊपरी हवा के कारण चेहरे का रंग झुलसकर काला हो जाता है, इसलिए अब नाक और उसके आस-पास का जो थोड़ा भाग खाली था, उस पर वेस्लीन मल ली थी। हाथों में दस्ताने थे, और बाकी सारा शरीर अनेक तह मोटे ऊनी कपड़ों से ढंका था।

धीरे-धीरे पैरों से नापते, मालूम होता था, युगों में रास्ता कट रहा है। पन्द्रह हज़ार, सोलह हज़ार, सत्रह हज़ार, अठारह हज़ार फुट पर पहुँचना—कहने में आसान मालूम होता है, लेकिन ये हर एक हज़ार फुट मनुष्य और पशुओं के फेफड़े, पैरों और पट्ठों पर कितना असह्य भार, कितनी पीड़ा पैदा करते हैं, इसका आभास भी शब्दों द्वारा चित्रित करना मुश्किल है। खर्दोङ् का जोत अठारह हज़ार फुट ऊँचा है, और तिब्बत के कठिन जोतों में गिना जाता है। ऊँचे स्थानों पर उषा और सूर्य की किरणें कुछ पहले पहुँचती हैं, किन्तु हम अभी डांडे से नीचे ही थे, तभी खूब सवेरा हो गया था। आज हवा और बादल नहीं थे, इसलिए यात्रा सुखपूर्वक हुई। लदाखी लोग इसे देवता का प्रताप समझते थे।

जोत पर पहुँचकर हम घोड़ों से उतर गए। एक साथी ने अदरक का एक टुकड़ा देते हुए कहा—जोत पर इसका खाना अच्छा होता है, इससे विषैली भूमि का असर जाता रहता है।

वहाँ पतली बीरी की शाखाओं में लाल-पीली झंडियों से अलंकृत खर्दोङ् डांडे के देवता का स्थान था। लदाखी साथियों ने शो-शों कहा। हमने थोड़ा विश्राम किया, और घोड़ों को उनके मालिकों के हाथ में पकड़ा पैदल ही उतरना शुरू किया। मुझे यह पता न था कि खर्दोङ् की उतराई चढ़ाई से भी मुश्किल है। उतराई में ऐसे भी सवारी पर चलना सवार और पशु दोनों के लिए कष्ट की चीज़ है। एक दो फर्लाङ्ग ही में जानवर की पीठ कट जाने का अन्देशा रहता है। और यहाँ की उतराई क्या, यह तो कहीं-कहीं जरा सी पीछे की ओर झुकी दीवार से उतरना था। कितनी ही जगह मुझे चतुष्पद बनना पड़ा। इस तरह कई मील तक—पहली तरफ से दूनी से भी अधिक दूर तक—बर्फ थी। लेकिन सारी जगह सीधी उतराई नहीं थी। खर्दोङ् की ऊपरी बर्फ कभी नहीं गलती; वह सनातन हिमानी है। ऊपर की बर्फ गल जाने पर जब निचली कड़ी चिकनी चिरन्तन बर्फ ऊपर आ जाती है, तो बोझा ले चलने वाले पशुओं के लिए बहुत खतरा हो जाता है। सीधी उतराई में यदि पैर फिसला, तो बगल में हजारों फुट नीचे अवस्थित सरोवर में गिरकर फिर उनके जीते जी निकलने की आशा नहीं की जा सकती। खैर, इस वक्त अभी यह बर्फ अर्वाचीन बर्फों से ढकी थी।

नौ-दस बजे के करीब हम राजकीय सराय में पहूंचे। यहीं खाना-पीना हुआ। घंटों के विश्राम के बाद हमने फिर प्रस्थान किया। यहां के पहाड़ों के सानु अधिकतर मिट्टी से ढके थे, और हलकी होने पर भी शताब्दियों से होती वर्षा के पानी ने उनको

काट-काटकर खम्भ, खड्ड और गुफाओं की शकल में परिणत कर दिया था। इधर बस्ती नहीं दीख पड़ती थी। खर्दोङ् से आते नाले के सहारे चलते-चलते बहुत समय बाद हम शियोक नदी की उपत्यका में पहुँचे। शियोक सिन्धु नदी की दो प्रधान धाराओं में है, यद्यपि सिन्धु का नाम इसकी दूसरी बहिन को मिला है, जो मानसरोवर की ओर से आ लेह से ५, ६ मील नीचे से गुज़रती है। तो भी, सिन्धु में समय-समय पर आने वाली खतरनाक बाढ़ें शियोक के कारण ही होती हैं। अक्षय सनातन शियोक-हिमानी गलकर अपने भीतर से एक मोटी धार इस नदी के आदि स्रोत के कूप में फेंकती है। जब तक धार के निकलने का रास्ता खुला रहता है, तब तक खैरियत है, किन्तु जहां सर्दी आदि के कारण पानी ने बर्फ की चट्टान बनकर धार का रास्ता रोका, वहाँ फिर पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्त के सिन्धु तटवर्ती गांवों और शहरों की ख़ैर नहीं। सरकार की ओर से शियोक-हिमानी पर चौकीदार रहते हैं। उनका काम है यह देखते रहना कि धार का मार्ग मुक्त है या नहीं। बर्फ के भीतर से आती धार का रास्ता बन्द होते ही चौकीदार तहसीलदार के पास आदमी दौड़ाता है। अरबों मन पानी के जमा होकर कांच सदृश हिम प्राकार को तोड़ने में कुछ दिनों की देर लगती है, तब तक, सावधानी करने पर खतरे की जगहों पर खबर दी जा सकती है। लेह के तहसीलदार जिस वक्त शियोक-हिमानी के खतरे का तार देंगे, बाकी सभी तार रोककर उसे दिल्ली, स्कर्दू और सीमाप्रान्त-पंजाब भेजना होगा। चौकीदार वैसे भी हर सप्ताह नियम-

पूर्वक धारा के पानी की गहराई आदि लिखकर भेजा करता है। एक बार गहराई कम होकर हिमानी का छिद्र बन्द होने लगा था। चौकीदार ने रिपोर्ट भेजी, किन्तु तहसीलदार ने उसे हमेशा जैसा कागज़ समझकर रख छोड़ा। एक दो-दिन बाद जब उनकी नज़र कागज़ पर पड़ी तो परिस्थिति की गम्भीरता उनकी समझ में आई, किन्तु जिस वक्त वह तार भेज रहे थे, उस वक्त खबर आई कि स्कर्दू के आस-पास तक पानी पहुंच गया है।

शियोक के बायें तट पर धार से कुछ ऊपर के गाँव में हम रात को ठहरे।

दूसरे दिन हम रिहोड़ लामा से मिलकर अगले जोत की तरफ बढ़े। यह लेह से पूरब की तरफ है। यह भी खर्दोङ् की भाँति ही बहुत ऊँचा डाँडा (जोत) है, किन्तु इसकी चढ़ाई-उतराई उतनी तीखी नहीं है। मेरु पर दोनों तरफ—उतराई की ओर अधिक—दूर तक बर्फ थी। शाम से पहले हम उस पार के गाँव में पहुँचे। उस गाँव का इतना ही स्मरण है कि दूसरे दिन सवारी के लिए घोड़े और सामान ले चलने के लिए दो या तीन औरतें मिली थीं। वह सभी एक उम्र की तरुणियाँ थीं। बूढ़े गंगाराम को छंग (कच्ची शराब) पीने और मज़ाक करने का बहुत शौक था। वे तिब्बती भाषा में बोल रहे थे, इसलिए मैं तो समझ न पाता था, किन्तु बीच-बीच में ठहाका ख़ूब लगता था। वैसे तो जोजीला पार होते ही वनस्पति, विशेषकर वृक्षों का दर्शन दुर्लभ हो जाता है, परन्तु इधर तो उसका बिलकुल ही अभाव था। कारण स्थान की

ऊंचाई और सर्दी थो। नदो पतलो थो, किन्तु उसकी उपत्यका बहुत चौड़ी थी, और चारों ओर के पहाड़ नंगे थे। दूसरे दिन हमें इस नदी को छोड़ दूसरी सूखो उपत्यका पकड़नी पड़ी। रात को एक छोटे से गाँव में ठहरे। वहाँ के घरों में लकड़ी का नाम मात्र उपयोग होने से वे अनगढ़ पत्थरों से मालूम पड़ते हैं। लोग मुश्किल से सत्तू भर के लिए कुछ खेती कर लेते हैं; नहीं तो उनका गुज़ारा भेड़ और याक के दूध, मांस पर होता है। आग के पास बैठे हम चाय पी रहे थे। पास में घर की बूढ़ी दादी घुमौआ मानी (प्रार्थनाचक्र) लिए घुमा रही थीं। मैंने बातचीत में पूछा—"बूढ़ी दादी! मरकर कहां जन्म लेने का मन है?" झट जवाब मिला—'ग्यगर दोर्जे-दन् (भारत, बोध-गया)।' मैंने कहा—'तो अभी चलो न, मैं उधर ही जा रहा हूं।' लेकिन जीते जी दोर्जे-दन् जाने के लिए बूढ़ी दादी तैयार न थीं।

आगे दो उपत्यकाएं ऊपर उठती किसी पर्वत मेरु पर न मिलकर एक छोटे से तालाब को अपना जलविभाजक बनाती थीं, चढ़ाई-उतराई वहाँ इतनी कम थी कि मालूम नहीं हुई। मन-पङ्-गोङ् झील के पास उपत्यका टेढ़ी-मेढ़ी हो गई थी, और हम उसके बहुत पास आ गए जब कि झील पर हमारी नज़र पड़ी। मन्-पङ्-गोङ् नीले पानी की पचासों मील तक फैली एक टेढ़ी-मेढ़ी झील है, इसका आधे से अधिक भाग तिब्बत की सीमा के भीतर है। पानी स्वच्छ दीख पड़ता है, किन्तु उसमें कोई मछली नहीं है। लोग कहते हैं, पानी में ज़हर है, इसलिए मछली जी नहीं सकती। जाड़ों में पानी जम

जाता है, उस वक्त आदमी उसके ऊपर रास्ता बना लेते हैं।

दूसरे दिन हम पूरब की तरफ झील की ओर मुड़े। कल की उपत्यका का मुँह पार किया। आस-पास के पहाड़ बहुत छोटे, टीले-से मालूम होते थे जिनके सानुओं और कक्षों में भारी बालुकाराशि जमा थी। दोपहर की चाय हमने एक छोटे-से गांव में पी थी। यहाँ खेतों में सिर्फ छोटी मटर दिखलाई पड़ी। चौदह हज़ार फुट से ऊपर भी खेती हो सकती है, इसका नमूना यहीं देखा। छोटी मटर के अतिरिक्त शायद नंगा जौ ही था, जो यहाँ पक सकता था। आगे भी रास्ता झील के तट के पास से था। वहाँ जमीन से बड़े-बड़े वृक्षों के निम्न भाग खोदकर निकाले जाते थे। आज तो यहाँ बीरी जैसा बेशरम वृक्ष भी दतुवन के लायक ही रह जाता है, किन्तु पहले किसी युग में मालूम होता है कि वहाँ की आबोहवा इतनी सर्द न थी; हो सकता है, उस वक्त हिमालय की ऊँचाई भी इतनी न रही हो, जब कि यहाँ इस तरह के विशालकाय वृक्ष होते थे।

मार्ग में एक रात ठहरकर अगले दिन फिर हमें नये घोड़े मिले। हम एक जोत की ओर बढ़े। जोत के देवता के स्थान पर झंड़ियाँ और सैकड़ों वर्षों से पूजा में चढ़ी याक, हिरण के अतिरिक्त जंगली भेड़ों की मोटी-मोटी सींगें भी थीं। चढ़ाई की भाँति उतराई भी आसान थी, और दोपहर को हम याकवालों के काले तम्बुओं में पहुँचे। लदाख के कुत्ते भी बहुत बड़े होते हैं, किन्तु यहाँ के लम्बे-लम्बे काले बालों वाले विशाल कुत्ते तो बहुत खूँखार मालूम होते थे। लेह में ही सुन चुका था कि चाङ् थाङ् के कुत्ते बहुत खतरनाक होते हैं, दूसरी जगह तो घोड़े के

सवार को वे भूँककर ही छोड़ देते हैं, किन्तु यहाँ वे कूदकर हमला कर देते हैं, इसलिए मैं अधिक भयभीत रहता था। तम्बुओं के पास पहुँचते ही दो-तीन कुत्ते 'हाँव'-'हाँव' करके पास दौड़ आए। खैर तम्बू वालों ने पहुँचकर उन्हें भगाया।

अब हमारे सामने जो मार्ग था, उसमें सिंधु नदी की धार को पार करना था। दूसरे दिन सवेरे गंगाराम घोड़े की नगी पीठ पर चढ़कर धार की थाह ले आये। सिन्धु यहाँ गहरी न थी, जाँघ बराबर पानी था। पहले सामान, फिर हम लोग पार उतरे। अब हम नदी के बाये किनारे से चल रहे थे। पहाड़ कहीं नज़दीक और कहीं दूर हट जाते थे। इस तरफ से भेड़ों के झुंड पीठ पर नमक और दूसरा सामान लादे चले जा रहे थे। उनके साथ एक-दो गदहे भी थे जिन पर तम्बू, चा-गुङ् (चाय मथने का लम्बा फोंफा) और दूसरा सामान लदा हुआ था। साथ में कुछ पुरुष और स्त्रियां थी। उस वक्त मेरे दिल में एक जबरदस्त लालसा पैदा हुई—क्या ही अच्छा होता, कि मैं भी इसी तरह कुछ भेड़ों, एक-दो गदहों और एक तिब्बती तरुणी के साथ एक जगह से दूसरी जगह घूमता-फिरता। जहाँ मन आता वहां तम्बू लगाता। तरुणी और मैं मिलकर गदहों और भेड़ों से सामान उतारते। दो बड़े कुत्ते हमारी चीज़ों की रखवाली करते। तरुणी चाय बनाती, फिर उस निर्जन निर्वृक्ष नंगी पर्वत-उपत्यका में हम दोनों एक निर्द्वन्द्व विचित्र-सा जीवन बिताते। जीविका के लिए हम कुछ विशेष चीज़ें रखते, जिन्हें एक जगह से दूसरी जगह बदला करते। इस प्रकार कभी लदाख, कभी मानसरोवर, कभी ब्रह्मपुत्र की उपत्यका में

टशोल्हुन्पो, कभी ल्हासा और कभी खम् (चीन के पास पूर्वीय तिब्बत का प्रांत) हमारे पैरों के नीचे रहता। फिर सोचा मानसरोवर और तिब्बत के डाकुओं से हम दोनों कैसे बच निकलते ? और जीवन की और भी तो बहुत-सी लालसाएँ हैं ; जवानी भी चिरस्थायी नहीं है, यह तो तब हो सकता था, जब कि जीवन हज़ार वर्ष का होता जिसमें जवानी के नकद पांच सौ साल होते। क्या लालसा-मात्र से जीवन को बढ़ाया जा सकता है ? यह समझने पर भी मेरी लालसा दबी नहीं। उसने एक कोने में स्थायी स्थान ग्रहण किया।

इसके बाद हम बुशहर रियासत की ओर रवाना हुए। मार्ग में कई दिन लगे। गंगाराम और उसका साथी लेह को लौट गये। इन दिनों कई अच्छे-बुरे अनुभव हुए। एक गाँव में रात आते ही पिस्सुओं की पलटन ने जब ताबड़-तोड़ हमले शुरू किए, तो परेशानी बढ़ी। रात के बीतने के साथ उनकी संख्या और चोट बढ़ चली, उस वक्त नींद कहाँ लग सकती थी ? सारे बदन में आग, और काटने की जगहों पर चकत्ते पड़ गये। मुझे वह रात आस-पास के पहाड़ों से भी बहुत बड़ी मालूम हुई।

उस गाँव से निकलने पर बहुत-सी भेड़ों पर सामान लादे कनौर का एक व्यापारी घोड़े पर चढ़ा आता मिला। उसने रास्ते को अच्छा बतलाया। स्पितोकी नदी और रास्ते को पार कर शाम को रारंग जोत से पहले ही भेड़ वालों के एक अड्डे पर पहुँचे। 'दूध का जला मट्ठा फूँक कर पीता है'—सोच मैंने उनकी दीवार के भीतर न जा बाहर ही भेड़ों

के बैठने की जगह में बिस्तर बिछाया। लेकिन रात को यहाँ भी, मालूम देता है, पिस्सुओं के पास उनके भाइयों का तार आ गया था। दो-एक बार जगह बदलने के बाद मैंने भेड़ों की जगह छोड़ दी। मालूम होता है, भेड़ें भी पिस्सुओं को पोसती हैं।

बुशहर रियासत—रात के स्थान से जोत बहुत दूर न । चढ़ाई भी उतनी मुश्किल न थी, हाँ उतराई कुछ कठिन ज़रूर थी। अगला गाँव रारंग था, जहाँ हम दोपहर तक पहुँच गये। जोन को लांघते ही मैं बुशहर रियासत में आ गया था। रारंग का मुखिया बड़ा रूखा था। यहाँ न तो चाय-पानी का प्रबन्ध हुआ, न घोड़ा मिला, न कोई बोझा ढोने वाला।

दूसरे दिन मुझे एक नौजवान (जो पहाड़ में नीच समझी जाने वाली लोहार जाति का था) भरिया मिल गया। उसकी पीठ पर सामान रखे मैंने उस स्वागत-शून्य गाँव को छोड़ा। भरिया ने इस इलाके के गरीबों की तरह दो-तीन जाड़े शिमले में मजदूरी करने में बिताए थे, इसलिए कहा जा सकता है कि वह देश देखा हुआ आदमी था। सिन्धु को जब से छोड़ा, तभी से रास्ता खराब मिलने लगा था, तो भी पहले जोत तक कोई दिक्कत न थी। दूसरे जोत का रास्ता भी कुछ सह्य था, किन्तु अब रास्ता बहुत खराब था, यद्यपि प्रदेश अपेक्षा-कृत गरम था। हम एक कोने की तरफ मुड़ रहे थे, मैंने समझा, वहां किसी धार को पार करना पड़ेगा। किन्तु यकायक ही हमारे सामने एक दूसरी ही धार आ गई। तीन-चार सौ फुट ऊपर से नीचे हजार फुट तक ८० डिग्री के झुकाव पर—करीब-

करीब सीधी—एक धूल और छोटे-छोटे पत्थरों की धार मन्द गति से गिर रही थी। मैं तो समस्या पर विचार करने लगा, किन्तु नौजवान छलांग मारते हुए एक पैर को धार से छुआते दूसरे पार चला गया। उस चल धूलि पर पैर रखते हुए मुझे मालूम होता था, कि मैं धार के साथ हजार फुट नीचे खड्ड में चला जाऊंगा। नौजवान समझा रहा था—डरिये मत, हलके से पैर रखते, बिना एक सेकिण्ड की देर किये दूसरे पैर को इस पार रख दीजिये। पर मेरी सारी तर्कशक्ति नौजवान की बात और उसके क्रियात्मक उदाहरण के पक्ष में नहीं हो रही थी। प्रश्न था—आगे चलना है, या फिर उस प्रधान के गाँव को ओर लौटना है। अन्त में मैंने हिम्मत की। उतनी फुर्ती से तो पैर को मैं उठा न सका हूँगा, किन्तु जब दूसरा पैर सही-सलामत परले पार की ठोस भूमि पर पड़ गया तो जान में जान आई।

अगले गाँव में उस तरुण व्यापारी की चिट्ठी ने काम किया और एक दूसरा भरिया आसानी से मुझे अगले गाँव तक पहुँचाने के लिए मिल गया। भरिया ने एक-दो बालिश्त की लकड़ी तथा पाँच-सात हाथ लम्बी रस्सी ले ली थी, मैंने समझा, शायद लौटते वक्त कुछ सामान उसे लाना होगा। रास्ता सारा उतराई ही उतराई का था। नीचे हम घोर गर्जन करती हुई एक नदी पर पहुंचे। देखा, वहाँ परले पार जाने के लिए सिर्फ एक इंच मोटा लोहे का तार है, जिसके दोनों सिरे दोनों तटों की चट्टानों पर पाषाण राशि से दबाए हुए हैं। भरिया ने सामान ज़मीन पर रख दिया। तार के

बराबर गहरी रेखा छिले लकड़ी के टुकड़े को उस पर रखा, फिर रस्सी को लकड़ी की पीठ पर बनी गहरी रेखाओं में लपेटकर नीचे दो फंदे झुलाये। पीठ पर भार लिये भरिया ने अपने दोनों पैरों को दोनों फंदों में जाँघ तक डाल दिया, और फिर तार को हाथ से दूहता सर-सर आगे बढ़ने लगा। धार काफी चौड़ी थी, चट्टानों के बीच नीचे की ओर बहुत तेज़ी से बहते हुए गम्भीर गर्जन और खौलते पानी के रूप में जा रही थी। भरिया जाते समय मुझसे कहता गया, मैं सामान उस तरफ रखकर आता हूं तो आपको भी ले चलता हूँ।

मैं कभी उस खौलते गर्जते पानी की ओर देखता, कभी कई हाथ ऊपर लटकते उस पतले तार पर नज़र दौड़ाता। धूलि की नदी के पार करने से कुछ हिम्मत बंधी थी, किन्तु वह इतनी न थी कि इस तार पर की यात्रा को आसान बना देती। भरिया इस तरफ लौट आया, उसने मेरे लिए भी एक वैसा फंदा बनाया। जाँघ फँसाते समय मेरे कलेजे की धड़कन बहुत बढ़ गई थी, और जब पैरों ने चट्टान को छोड़ दिया तो उसका वेग कई गुना बढ़ गया। किन्तु जब भरिया ने ढकेल कर मुझे चट्टान से आगे धार के ऊपर सरकाया, तो उस डर का कहीं पता न था। मालूम होता था मैं लचलचाते हुए तार पर झूला झूल रहा हूँ। पार पहुँच जाने पर मन कहता, एक बार फिर झूले का मज़ा लिया जाये, किन्तु भरिया के समय का भी ख्याल करना था। आखिर चल पड़ा।

सुन्नम्—चढ़ाई कुछ मालूम न हुई। कई दिन पैदल चलते-

चलते अब मुझे चलने की आदत भी पड़ गई थी, और खाली बदन चलने में रास्ते का मजा आने लगा था। जात पार कर उतराई आई और वह भी आसान थी। अब तक पायजामा पहिने, मैली-कुचैली, भारी चेहरे, गोल आंख और गाल की हड्डी निकली औरतों को देखते-देखते बहुत दिन हो गये थे, इसलिए जब मैंने पहले-पहल पानी की नहर मरम्मत करने वाली ऊनी साड़ी को काँटे के सहारे कन्धे पर बांधे सुन्नम् की स्त्रियों, उनके निर्मांसिल गोरे चेहरे, नुकीली नाक और गौर शरीर को देखा तो मुझे मालूम हुआ कि मैं सौन्दर्य के देश में आ गया हूँ। उनके असाधारण मधुर कंठ से निकले संगीत को सुनकर तो संस्कृत साहित्य की किन्नर-कंठियों की प्रशंसा बहुत ठीक जंची—कनौर वस्तुतः किन्नर का अपभ्रंश है। इधर हमें अब देवदार के वृक्ष मिलने लगे। यद्यपि आकार में अभी वे उतने ऊँचे न थे, तो भी हरियाली को देखने के लिए तरसती आँखें अब बहुत तृप्ति अनुभव करने लगीं।

इसके बाद की यात्रा भी मनोरंजक है। मार्ग में हिमालय की सुन्दर दृश्यावलि के दर्शन कर मैं कृतकृत्य हो गया। सुन्नम् से कनम्, चिमी, सराहन, रामपुर, कोटगढ़ आदि होता हुआ मैं बहुत दिनों बाद शिमला पहुंच गया, और वहां से मेरठ होते हुए छपरा चला आया।

५

जापान में क्या देखा

किसी भी व्यक्ति के परिचय के लिए उसके साथ दीर्घकालीन सहवास आवश्यक है और किसी भी देश के परिचय के लिए वहां दीर्घकालीन निवास।

जापान में अपना न दीर्घकालीन निवास ही रहा और न कुछ कहने-सुनने लायक सामाजिक जीवन ही। तो भी दो-चार बातें सुनिए।

जापान में बच्चे का नामकरण उसके पैदा होने के सातवें दिन किया जाता है। जापानियों की धारणा है कि जैसा नाम वैसा भविष्य, इसलिए आजकल विशेषज्ञ लोग बच्चों के नाम खूब अच्छे-अच्छे और खूब चुन-चुनकर रखते हैं। कभी-कभी तो वे इतने दुरूह हो जाते हैं कि उनका उच्चारण और लेखन स्वयं बच्चों के लिए मुसीबत हो जाता है।

घर में बच्चा न हो तो 'गोद' ले लिया जाता है। कभी-कभी घर में बच्चा रहने पर भी बच्चा गोद लिया जाता है। पिता चाहता है कि उसकी बिटिया घर में ही रहे। वह किसी

बच्चे को गोद लेकर उसीसे उसकी शादी कर देता है।

जीवन की परिभाषा—आजकल लोग कुर्सी और मेज़ को सामाजिक पूर्ति मानते हैं। जापान में सामाजिक जीवन की देवी है ततभी अर्थात् चटाई।। ततभी का जापानियों के घरेलू जीवन पर बड़ा ही प्रभाव है—उनके उठने-बैठने से लेकर उनके घर की सजावट तक। लोग ततभी पर बैठते हैं तो हिन्दुओं की तरह पालथी मारकर नहीं, बल्कि कुछ-कुछ वैसे ही जैसे मुसलमान भाई नमाज़ पढ़ते समय। नई ततभी बड़ी मनोरम, सुन्दर और भीनी-भीनी खुशबू देती है। जापानियों की कहावत भी है कि पत्नी और ततभी दोनों नई ही अच्छी लगती हैं।

जापान में बच्चे के जन्म के एक सौ बीस दिन बाद उसके मुंह में कुछ खाद्य डाला जाता है। इसे आप जापानी बच्चों का अन्नप्राशन संस्कार कह सकते हैं। जापानियों का विश्वास है कि इस संस्कार के प्रभाव से बच्चा स्वस्थ रहेगा, मोटा-ताजा रहेगा और उसे कभी भी भोजन का अभाव न होगा।

जापानी बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं तब चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं—'इत्तेयैरिमसू' अर्थात् मैं जा रहा हूं। वापस लौटने पर 'तैदम्मा पैयि' अर्थात् अभी आया हूं।

बच्चों की बात चल रही है, लगे हाथ उनके सबसे बड़े आकर्षण की बात भी कह दूं। वह है कमिशीबाई। कमिशीबाई किसी स्त्री का नाम नही है। कमिशीबाई आया नहीं कि बच्चे अपने-अपने घरों से निकलकर चौरस्ते पर इकट्ठे हुए नहीं। कमिशीबाई अपनी साइकिल पर एक लकड़ी का चौखटा लगा लेता है। उसके पास एक बक्स भी रहता है जिसमें खट्टी-

मीठी मिठाई रहती है। मिठाई खरीदने वाले बच्चे तमाशा देखने के समय प्रथम पंक्ति में खड़े रहने के अधिकारी होते हैं। कमिशीबाई एक के बाद दूसरी तस्वीर उस चौखटे में लगाता जाता है और दूसरी ओर से निकालता जाता है। वह तस्वीरें जो कहानी कहती हैं, वही कहानी वह कमिशीबाई भी सुनाता जाता है। इसे बच्चों का चलता-फिरता बोलता सिनेमा ही समझिए। बच्चों को अज़हद पसन्द। माता-पिता को प्रायः उतना ही नापसन्द। कारण स्पष्ट है। कमिशीबाई के आने पर बच्चे माता-पिता को पैसों के लिए जो हैरान करते हैं!

पुलिस तक इन कमिशीबाइयों पर नज़र रखती है, न जाने कैसी क्या कहानी सुना जायें। अद्भुत प्रचारक होते हैं ये। मिठाई और शिक्षण साथ-साथ!

प्रत्येक जापानी घर में देव-स्थान जैसा एक स्थान रहता है जो धार्मिक न होने पर भी आइत होता है। अतिथियों में प्रधान अतिथि को सदैव इसी आइत स्थान के ठीक सामने उसी की ओर पीठ करके बैठना होता है।

दो आदमी खड़े हों तो जो दर्जे में नीचा हो, उसे बायीं ओर खड़ा होना होता है। जापान में दायीं ओर ही सम्मान का स्थान है। जब पुरुष और स्त्री साथ-साथ बैठते हैं तो स्त्री को सदैव पति के बायीं ओर बैठना होता है। घर के मालिक को आदर का पहला स्थान मिलना ही चाहिए।

उठने-बैठने की यह व्यवस्था पर्याप्त प्राचीन है। राजा हमेशा दक्षिण की ओर मुंह करके बैठता है, क्योंकि दक्षिण दिशा सम्माननीय है।

बहुत देशों और वहां के लोगों के बारे में कहा जाता है कि जैसा देश वैसे लोग। लेकिन यह कहावत जापानियों पर सबसे ज्यादा घटित होती है। लगता है कि वे अपने देश के लिए ही बने हैं और उनका देश भी ठीक उन्हीं के लिए। जापान में एक फ्यूजी पर्वत को छोड़ शायद सभी चीजें छोटे आकार की हैं। स्वयं जापानी तो हैं ही।

विदेशी यात्री को जापान में जो चीज सबसे पहले खटकती है, वह है जापानियों की रुचि। रेल में सोने की जगह इतनी छोटी कि कोई ज़रा भी लम्बा आदमी पैर फैलाकर न सो सके। हाथ-मुँह धोने के बरतन इतने नीचे कि हर किसी को दुहरा होना ही पड़े।

जापानी घरों में मेज़-कुर्सी तो होती ही नहीं। खाने की चौकी चार इंच ऊंची। आइत स्थान में रखा हुआ बौना पेड़ नीचे से ऊपर तक ज्यादा अठारह इंच ऊंचा।

घर में जिस पिछवाड़े को हम निकम्मा समझकर छोड़ देंगे उसी छोटी-सी जगह में जापानी एक छोटा-सा बाग़ लगा लेंगे जिसमें तालाब होंगे, नदियां होंगी, पुल होंगे, लैम्प लगे होंगे और बौने पेड़ों का एक जंगल होगा।

आदमी को लगने लगता है कि प्रसिद्ध अंग्रेजी कथा 'गुलिवर्ज़ वाएज' का गुलिवर लिलिपुत में पहुंच गया।

सातवीं शताब्दी के मध्य से जापान निह्योन कहलाता है जिसका मतलब है सूर्योदय का देश। कौन-सा देश सूर्योदय का देश नहीं है? जो देश हम से कुछ पश्चिम में हैं उनके लिए भारत भी सूर्योदय का ही देश है।

हां तो इस सूर्योदय के देश में आदमी के लिए जो सबसे अधिक लज्जा की बात है, वह है म्युसक्योनो रह जाना, जिसका मतलब होता है, रजिस्टर्ड न होना । इस तरह का व्यक्ति न किसी स्कूल में प्रवेश पा सकता है और न उसे कोई नौकरी ही मिल सकती है ।

जापान में रजिस्ट्रेशन की पद्धति अत्यन्त विकसित है। सभी जापानियों को शहर, नगर अथवा गांव के आफ़िस में रजिस्टर्ड होना ही होता है । जब तक रजिस्ट्री न हो तब तक न किसी के जन्म का कोई कानूनी मूल्य है, न शादी का, न तलाक़ का, न मृत्यु का, और न स्थान परिवर्तन का । यदि किसी को अदालत में कोई सज़ा मिलती है, तो वह भी रजिस्टर में दर्ज होती है ।

पहले प्रत्येक सामरी अथवा सामरिक जाति का मुखिया किसी न किसी बौद्ध सम्प्रदाय में रजिस्टर्ड रहता था और प्रत्येक परिवार किसी न किसी बौद्ध मन्दिर में । जो परिवार रजिस्टर्ड रहे हैं, उनके सदस्यों का यह अधिकार रहा है कि मरने पर उन मन्दिरों के पुजारी आकर उनका श्राद्ध करायें और उनके शव को मन्दिर की श्मशान-भूमि में स्थान मिले ।

रजिस्टर्ड सदस्यों से भी यह आशा रही है कि वे भी मन्दिर के खर्च में सहायक सिद्ध हों ।

किसी के विवाह-संस्कार से तो बौद्ध पुजारियों को प्रायः कुछ लेना-देना नहीं रहा । इधर वे भी मन्दिरों में होने लगे हैं । हां, किसी के घर में शोक हो जाए तो मृत व्यक्ति के दाह-संस्कार के समय सूत्रपाठ किया जाता है ।

जापान में बौद्धों का, जो जापान की जनसंख्या के ७० प्रतिशत कहे जाते हैं, अग्नि-संस्कार ही होता है। उनकी भस्म का कुछ हिस्सा दाह-क्रिया की जगह पर ही रहता है, लेकिन कुछ हिस्सा मन्दिर में भी लाकर रख दिया जाता है।

प्रतिवर्ष १५ जुलाई को जापान भर में मृत व्यक्तियों का श्राद्ध मनाया जाता है। मृत पूर्वजों, सम्बन्धियों, मित्रों और विशेष रूप से पहले एक वर्ष में ही जो अपने सम्बन्धियों को छोड़कर चले गये हैं, ऐसे लोगों के लिए घरों तथा मन्दिरों में—दोनों जगह सूत्रपाठ किये जाते हैं।

पूर्वजों को अर्पित किये गये फल-फूल दूसरे दिन किसी समीप की नदी अथवा समुद्र की भेंट चढ़ा दिये जाते हैं।

परस्पर एक दूसरे की सहायता के लिए जापान में एक प्रथा प्रचलित है जो म्युजिन कहलाती है। मंडली के प्रत्येक सभासद् का कर्तव्य है कि हर महीने मंडली के सामूहिक कोष में एक निश्चित रकम डाले। यह मियाद दस महीने से तीस महीने तक की हो सकती है। जिस समय सभी सदस्य अपना-अपना हिस्सा डालने के लिये एक जगह एकत्र होते हैं, उसी समय पर्ची भी डाली जाती है। जिस भाग्यवान् के नाम की पर्ची निकल आती है उसी को वह सारी इकट्ठी रकम एक साथ मिल जाती है। यदि किसी को अधिक आवश्यकता हुई तो वह भाग्यवान् सदस्य को कुछ देकर उससे वह अधिकार खरीद लेता है। बारी-बारी से सभी सदस्यों को बराबर रकम मिल जाने के बाद यह क्रम फिर चालू कर दिया जाता है।

यह आपसी सहयोग-क्रम अनन्त काल तक चालू रह सकता है।

जापानियों में आपस में भेंट का बड़ा ही रिवाज है। भेंट लेने-देने के मामले में शायद ही कोई उनका मुकाबला कर सकता है। शादी-विवाह जैसे महत्वपूर्ण अवसरों पर तो सभी देशवासी प्राय: एक-दूसरे को भेंट देते ही हैं, परन्तु जापानी तो ऐसे अवसरों पर भी भेंट देते हैं, जैसे नये मकान के बनने पर, नया पता बदलने पर, नयी नौकरी लगने पर ! काम से तो नहीं, किन्तु यदि यूं ही किसी के यहां जाना हो तो खाली हाथ जाना न होगा और उसका भी धर्म है कि खाली हाथ न लौटने दे।

अध्यापक, गुरु और वैद्य—इन तीनों पर यह पाबन्दी लागू नहीं। वे बिना बदले में कुछ भी दिये कोई भी भेंट स्वीकार कर सकते हैं।

कुछ न कुछ भेंट देते रहना जापानियों की प्रकृति का एक अंग बन गया है। अपरिचित लोगों तक को कभी-कभी काफी मूल्यवान चीजें भेंट में दे दी जाती हैं। दाताओं का आनन्दित होना ही एकमात्र कारण समझ में आता है। जापान जाते समय मेरे अपने पास कुल ६० पौण्ड सामान था। लौटा तो १५० पौण्ड हो गया ! जापानी मित्रों की इसी प्रवृत्ति की कृपा से।

जापानियों में एक प्रथा है जो एक दृष्टि से अच्छी भी लगती है। जब कोई परिवार देखता है कि वह कर्जे के भार से इतना ऊब गया कि अब उसके चुका सकने की कोई आशा

नहीं, अथवा परिवार के सदस्य से कोई ऐसी गलती हो गयी जिससे परिवार की इज्जत में स्थायी रूप से बट्टा लग सकता है, तो उस परिवार के सदस्य रातों-रात अपना सब सामान समेटेंगे और किसी को भी बिना कुछ पता दिये किसी अज्ञात स्थान के लिए निकल पड़ेंगे। यह प्रथा 'योनिगे' कहलाती है, जिसका अर्थ है रात्रि-निष्क्रमण।

निराश प्रेमी युगलों की आत्म-हत्याएं अतीत की मनोरम कथाएं बन गई हैं। अब कोई 'हर-किरि', पेट फाड़कर आत्म-हत्या भी नहीं करता। किसी समय ये दोनों बातें भी जापानी जीवन की खासियतें थीं।

एक खास पारिवारिक और सामाजिक संस्था है जो कदाचित् जापान में ही है। यह ठीक-ठीक भारतीय आश्रम-व्यवस्था का वानप्रस्थ आश्रम भी नहीं। कोई भी आदमी स्वेच्छा से परिवार के मुखियापन और समस्त कार्यभार से मुक्त हो जाता है। वह और उसकी भार्या दोनों इंक्यो कहलाते हैं।

जापानियों का सामान्य पेय है चाय, जिसमें न चीनी और न तिब्बतियों की तरह नमक ही। इसके बाद दूसरे नंबर पर है साके, चावल की सुरा।

जापान में पीकर ग़र्क़ हो जाने में कोई बुराई नहीं मानी जाती। यहां तक कि यदि आप किसी खास अवसर पर किसी के मेहमान हैं और पीकर ग़र्क नहीं होते तो मेज़बान को अच्छा नहीं लगता।

एक ओर तो जापानियों की चाय बिना चीनी के होती है और वे विशेष मिठाई-प्रिय भी नहीं होते। तो भी आश्चर्य

है कि उनकी काफी सब्जियां क्यों चीनी में पगी होती हैं। प्याज चीनी में पगा हुआ। यह चीज़ जापान में ही खाने को मिलेगी।

जापानियों का मानस अनेक सुन्दर सुकोमल कथाओं के झीने-झीने तारों से बुना हुआ है। एक लघु कथा इस प्रकार है।

एक आदमी था, जिसके दो ही काम थे—या तो मां की सेवा करना या बाग के फूलों की। समय पाकर उसकी माता का देहान्त हो गया। उसका दिल भारी हो गया। वह बाग में घूम रहा था। उसने देखा, बाग के फूलों की पंखड़ियां बिखर-बिखरकर जमीन पर आ रही हैं। वह साधू हो गया······और भी एकाकी। एक रात उसकी कुटी के दरवाज़े पर ठक-ठक हुई। दरवाजा खोला। एक स्त्री खड़ी थी। बड़े संकोच और भय के साथ उसने उसे अन्दर आने दिया।

बुढ़िया एक भिक्षुणी थी, सफेद वस्त्र पहने। उसके बाद तरुणियां आयीं। एक से एक बढ़कर सुन्दर लिबास पहने।

साधक ने सभी को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। वे प्रभावित हुईं। उनकी आंखें सजल हो आयीं। वे जाने को हुईं।

साधक ने कहा, "अपना परिचय तो देती जाओ।"

"हम उन्हीं फूलों की पंखुड़ियां हैं, जिन्हें तुम इतने दिन अपने बाग में प्रेमपूर्वक सींचते रहे।"

मैं जापान में महीना भर रहा। दो-तीन चीजें नहीं देखीं—रोते हुए बच्चे नहीं देखे, झगड़ती हुई स्त्रियां नहीं देखीं, मांस-मछली की दुकानों पर भी मक्खियां नहीं देखीं।

६ लोभ

लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है; क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता। इसलिए जो मनुष्य सोने और चांदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं, तो वह वृथा अहंकारी अवश्य है। जो बहुत धनवान् है, वह यदि बहुत बुद्धिमान् और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब कुछ समझते। परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सबसे अधिक बुद्धिमान् नहीं होते। इसलिए धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है; क्योंकि उससे सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आजकल के समय के अनुकूल नहीं। योरप और अमेरिका के ज्ञानी धन ही को बल—बल नहीं, सर्वस्व—समझते हैं। परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता कैसे दी जा सकती है? और देशों में उसे भले ही प्रधानता दी जाय,

परन्तु भारतवर्ष में उसे प्रधानता मिलना कठिन है। जिस देश के निवासी संसार ही को मायामय, अतएव दुःख का मूल कारण समझते हैं, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।

बहुत धनवान् होना व्यर्थ है। उससे कोई लाभ नहीं। क्योंकि साधारण रीति पर खाने-पीने और पहनने आदि के लिए जो धन काम आता है, वही सफल है। उससे अधिक धन होने से कोई काम नहीं निकलता। स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुसार खाने-पीने ही की आवश्यकताओं को दूर करने के लिए धन की चाह होती है। दूसरों को दिखलाने अथवा उसे स्वयं देखने के लिए धन इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं। कोई जगत् सेठ ही क्यों न हो, यदि वह सितार या वीणा बजाना सीखना चाहेगा, तो उसे उस विद्या को उसी तरह सीखना पड़ेगा जिस तरह एक निर्धन—महा-कंगाल—को सीखना पड़ता है। उस गुण को प्राप्त करने में उसकी धनाढ्यता ज़रा भी काम न देगी। वह उसे मोल नहीं ले सकता। जब उसे धन के बल से वीणा बजाने के समान एक साधारण गुण भी नहीं मिल सकता, तब शान्ति, शुद्धता और धीरता आदि पवित्र गुण क्या कभी उसे मिल सकते हैं? कभी नहीं।

जिसके पास आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक धन हो जाता है, वह अपने आपको, अर्थात् यों कहिए कि अपनी आत्मा को, अपने वश में नहीं रख सकता। क्योंकि सन्तोष न होने के कारण वह उस धन को प्रतिदिन बढ़ाने का यत्न करता है। अतएव वह धन किस काम का जो लोभ को बढ़ाता

जाय ? भूख लगने पर भोजन कर लेने से तृप्ति हो जाती है। प्यास लगने पर पानी पी लेने से तृप्ति हो जाती है। परन्तु धन से तृप्ति नहीं होती। उसे पाकर और भी अधिक लोभ बढ़ता है। इसीलिए धनी होना एक प्रकार का रोग है। रात को जाड़े से बचने के लिए एक लिहाफ बस होता है। यदि किसी के ऊपर आठ-दस लिहाफ डाल दिए जाएं तो उसे बोझ मालूम होने लगेगा और उल्टा कष्ट होगा। परन्तु धन की वृद्धि से कष्ट नहीं मालूम होता इसीलिए धनाढ्यता भी एक प्रकार की बीमारी है। जिसे भस्मक रोग हो जाता है, वह खाता ही चला जाता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जिसे धनाढ्यता का रोग हो जाता है, वह भी कभी तृप्त नहीं होता। तृप्ति का न होना, अर्थात् आवश्यकताओं का बढ़ जाना ही दुःख का कारण है। और जहाँ दुःख है, वहाँ सुख रह ही नहीं सकता। उन दोनों में परस्पर वैर है, अतएव उसी को धनी समझना चाहिए जिसकी आवश्यकताएं कम हैं; क्योंकि वह थोड़े ही में तृप्त हो जाता है। तृप्ति ही सुख है, और लोभ ही दुःख है।

सन्तोष नीरोगता का लक्षण है; लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते-खाते सन्तुष्ट नहीं होता, उसे अधिक खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके लिए वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यों को अधिक खिलाने की अपेक्षा उनके खाए हुए पदार्थों को वमन कराके बाहर निकालना पड़ता है। क्योंकि अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट में रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता।

इसी तरह जिनको सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रतिदिन अधिक-अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न में रहते हैं, उनको अधिक देने की अपेक्षा उनसे कुछ छीन लेना अच्छा है। क्योंकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है अतएव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता; किसी न किसी वस्तु की सदैव कमी ही बनी रहती है। लोभी मनुष्य को चाहे त्रिलोक की सम्पत्ति मिल जाय, तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी ही रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है; परन्तु है बड़ी सख्त बीमारी। सख्त इसलिए है कि वह अपने को बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है, भोजन छोड़ नहीं देता। परन्तु लोभी का प्रकार उलटा है। उसे द्रव्य की भूख रहती है; परन्तु जब वह उसे मिल जाता है, तब उसे वह काम में नहीं लाता, रख छोड़ता है; और अधिक धन पाने के लिए दौड़-धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इसलिए धन इकट्ठा करता है जिससे उसे किसी समय उसकी कमी न पड़े। परन्तु उसे उसकी कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उसकी कमी कल्पित होती है, परन्तु पीछे से वह यथार्थ—असली—हो जाती है; क्योंकि घर में धन होने पर भी वह उसे काम में नहीं ला सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है, और सन्तोष का सुख खाक में मिल जाता है। लोभ से भूख बढ़ती है और तृप्ति घटती है। लोभ

से मूलधन व्यर्थ बढ़ता है, और उसका उपयोग कम होता है। लोभी का धन देखने के लिए, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरों को छोड़ जाने ही के लिए होता है। ऐसे धन से क्या लाभ ? ऐसे धन को इकट्ठा करने में अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा संसार भर में जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है। क्योंकि लोभों का धन उसके काम तो आता नहीं इसलिए उसे दूसरे का धन, मन ही मन, अपना समझने में कोई हानि नहीं। उससे उलटा लाभ है; क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियों को खजाने का सन्तरी समझना चाहिए। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं, तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरों के लिए छोड़ जाते हैं।

कोई-कोई लोभी अपने पीछे अपने लड़कों के काम आने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। उनको यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उनका काम चल गया, उसके बिना उनके लड़कों का भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कामों में लगाकर खुद भो बदनाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते हैं।

धनवान् यदि लोभी है तो उसे रात को वैसी नींद नहीं आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान् को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्ति वाले से हम अधिक सम्पत्ति वाले ही को दरिद्री कहेंगे। क्योंकि जिसे ५ रुपए की आवश्यकता है, वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रुपए की आवश्यकता वाला

है। कहां ५ और कहां ५०० ! सधनता और निर्धनता मन की बात है। जिनका मन उदार है, वे अनुदार और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान् हैं। क्योंकि उदारता के कारण उनका धन किसी के काम तो आता है—चाहे वह बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। बहुत धन होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उसका धन किसी के काम न आया तो उसका होना न होना दोनों बराबर हैं। शेख शादी ने बहुत ठीक कहा है—

"तवङ्गरी बदिलस्त न बमाल।"

अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं।

७

चरित्र-सङ्गठन

मनुष्य की विशेषता उसके चरित्र में है। चरित्र के कारण ही एक मनुष्य दूसरे से अधिक आदरणीय समझा जाता है। मनुष्य का आदर उसके पद, धन वा विचार के कारण होता है; परन्तु ये सब एक प्रकार से बाहरी हैं, स्थायी नहीं। यदि स्थायी भी हों, तो उसके लिए जो आदर होता है, वह भय के कारण। धन का आदर वही करेगा जिसको धनी से कुछ लाभ उठाने की इच्छा हो। विद्या का मान सज्जन अवश्य करते हैं। वह भी जब विद्या, विनय एवं चरित्र से युक्त हो। विद्या, धन, बल तथा पद होते हुए भी रावण अपने राक्षसी कर्म के कारण निन्दनीय था। राक्षस साक्षर होकर वन्दनीय नहीं बन जाते।

मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र में है। चरित्र में ही उसके आत्मबल का प्रकाश होता है, और यह पता लगता है कि उसकी आत्मा कितनी बलवान् है। मनुष्य का चरित्र ही बतलाता है कि वह कितने पानी में है।

यह चरित्र क्या है जो इतना महत्व रखता है ? यह चरित्र उन गुणों का समूह है जो हमारे व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं। दार्शनिक बुद्धि, वैज्ञानिक कौशल, काव्य की प्रतिभा ये सब वांछनीय हैं, परन्तु ये हमारे चरित्र से सम्बन्ध नहीं रखते। फिर, चरित्र में कौन-सी बात आती है ? विनय, उदारता, लालच में न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण, वचन का प्रतिपालन करना और कर्तव्य-परायणता, ये सब गुण चरित्र में आते हैं। चरित्र में इन सब बातों के अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें हैं, परन्तु ये मुख्य हैं। ये सब गुण प्रायः स्वाभाविक होते हैं, परन्तु अभ्यास से बढ़ाए जाते हैं। अभ्यास में सत्संग से बहुत सहायता मिलती है। अभ्यास के लिए बाल्यकाल ही विशेप उपयुक्त है। यह काल बनाव का है। बनते समय मनुष्य जैसा बन जाए वैसा ही वह जीवन-पर्यन्त रहता है। बाल्यकाल में स्नायु कोमल रहती हैं तथा वह अन्य संस्कारों से दूषित नहीं होतीं। इस कारण, जो उस काल में अभ्यास डाला जाता है, वह सहज ही में सिद्ध हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में अन्य संस्कारों के दृढ़ हो जाने के कारण नये संस्कार कठिनाई से जमते हैं।

मनुष्य-जीवन का प्रभात, जिसमें सब प्रकार की शक्तियों के विकास की सम्भावना होती है, विद्यार्थी-जीवन में व्यतीत होता है। जो लोग इस विद्यार्थी-जीवन में हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, उनका परम उत्तरदायित्व है कि यह काल केवल ज्ञान संग्रह में ही न चला जावे। बाल्यावस्था फिर लौटकर नहीं आती। भावी चरित्र-निर्माण करने का यही सुअवसर है। विद्यार्थी और

शिक्षक अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझकर निम्नलिखित सिद्धान्तों पर ध्यान दें और इनसे विद्यार्थियों के चरित्र-संगठन में सहायता लें। यद्यपि ये सिद्धान्त प्राचीन काल से बतलाये जा रहे हैं तथापि इनके प्रचार की आज भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी प्राचीन काल में थी।

विनय

विनय विद्या का भूषण है। बिना विनय के विद्या शोभा नहीं देती। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्राह्मण का विशेषण 'विद्या-विनय-सम्पन्न' कहा है। जिस विद्या के साथ विनय नहीं है उससे कोई लाभ नहीं हो सकता। विनय केवल विद्या को ही नहीं, वरन् धन और बल दोनों को ही शोभा देती है। भृगुजी ने भगवान् विष्णु के वक्षस्थल पर लात मारी तो भगवान् पूछने लगे कि महाराज! आपके पैर में चोट तो नहीं आई। विनय का क्या ही उत्तम आदर्श है! विनय केवल शिष्टाचार के लिए ही आवश्यक नहीं है, वरन् इससे आत्मा की शुद्धि होती है। विनयशील मनुष्य अभिमान के दोष से बचा रहता है। नम्रभाव दूसरों में प्रेम-भाव उत्पन्न करता है और अपने में अपूर्व शान्ति अनुभव करता है। धन, बल और विद्या के होते हुए भी जो विनय प्रकट करता है उसको कोई कायर नहीं कह सकता। भय-वश विनय आत्मा को गिराती है, किन्तु प्रेम और निरभिमानता की विनय आत्मा का उत्थान करती है।

विनय का अभाव एक प्रकार का खोखलापन प्रकट करता

है। जिन लोगों में कोई श्लाघनीय गुण नहीं होता वे अपनी ऐंठ तथा डांट-फटकार से लोगों पर प्रभाव जमाते हैं; किन्तु गुणवानों को इसकी आवश्यकता नहीं। उनका प्रभाव स्वतः-सिद्ध है। यदि विनयशील मनुष्य का समाज में प्रभाव थोड़ा हो, तो विनयशील मनुष्य का दोष नहीं; यह समाज का ही दोष है। इसके अतिरिक्त प्रेम का प्रभाव चाहे थोड़ा हो, पर दबाव के प्रभाव की अपेक्षा, वह चिरस्थायी होता है। यद्यपि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए कि विनय सब स्थानों में काम नहीं देती—जैसे शत्रु के सम्मुख—तथापि हमको यह कहना पड़ेगा कि विनयशील पुरुष को ऐसे अवसर कम आएंगे कि उनको अपनी विनय के कारण गौरव-हानि का दुःखद अनुभव करना पड़े।

इसके अतिरिक्त जीवन में अधिकांश ऐसे अवसर है जिनमें विनय से सगौरव कार्य-साधन हो सकता है। खेद तो इस बात का है कि हम लोग मित्रों और गुरुजनों के साथ भी विनय का व्यवहार नहीं करते। विनय के साथ निरभिमानता, मनुष्य-जाति का आदर, सहनशीलता इत्यादि अनेक सद्गुण लगे हुए हैं। इसके अभ्यास में इन सब गुणों का अभ्यास हो जाता है।

उदारता

उदारता का अभिप्राय केवल निःसंकोच भाव से किसी को धन दे डालना ही नहीं, वरन् दूसरों के प्रति उदार-भाव रखना भी है। उदार पुरुष सदा दूसरों के विचारों का आदर करता है और समाज में सेवक-भाव से रहता है। 'उदार-

चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' में जो उपदेश दिया गया है, वह केवल धन की उदारता नहीं, वरन् उसमें प्रेम और सेवा की भी उदारता सम्मिलित है। बहुत-से लोग आपकी धन-सम्बन्धी उदारता की अपेक्षा नहीं करते। बहुत-से निर्धन भी इस बात को अपनी निर्धनता के गौरव के विरुद्ध समझते हैं कि वे आपकी आर्थिक सहायता लें; किन्तु वे आपके उदारता-पूर्ण शब्दों के सदा भूखे रहते हैं।

यह न समझिए कि केवल धन से ही उदारता हो सकती है। सच्ची उदारता इस बात में है कि मनुष्य को मनुष्य समझा जाए; उसके भावों का उतना ही आदर किया जाए जितना अपने का। ऐसा आदर उदारता नहीं है, वरन् कर्त्तव्य है। प्रत्येक मनुष्य में आदरणीय गुण होते हैं। यह न समझना चाहिए कि धन, विद्या अथवा पद ही आदर का विषय है। गरीब आदमी यदि ईमानदार है तो वह बेईमान धनाढ्य की अपेक्षा कहीं आदरणीय है; क्योंकि गरीबी में ईमानदार रहना और भी कठिन है। गरीब ही हमारे आदर का पात्र है। मिहनत करने वालों में एक दैवी प्रभा रहती है जो सदा पूजा-योग्य है। जिनको लोग नीच एवं दलित समझते हैं उनके प्रति आदर-भाव रखना मनुष्य की आत्मा को सुख तथा शान्ति देता है।

जो लोग अपने साथियों के साथ आदर-भाव रखते हैं—उनकी भूलों को, उनके हठ तथा वैर को स्वयं उपेक्षापूर्वक क्षमा कर देते हैं, ऐसे लोग परम उदार हैं। यह उदारता धन की उदारता की अपेक्षा कठिनतर है, तथा उसी अनुपात में अधिक

श्लाघनीय भी है। धन की उदारता के साथ सबसे बड़ी एक और उदारता की आवश्यकता है। वह यह कि उपकृत के प्रति किसी प्रकार का अहसान न जताया जाए। अहसान दिखाना उपकृत को नीचा दिखाना है। अहसान जताकर उपकार करना अनुपकार है। इसीलिए अपने यहां गुप्त-दान का बड़ा महत्व माना गया है।

लालच में न पड़ना

मनुष्य जितना ही बलवान् माना गया है, उतना ही कमज़ोर है। ज़रा-से अविचार में मनुष्य का पतन हो जाता है और वर्षों का तप धूल में मिल जाता है। लालच केवल धन का ही नहीं, वरन् हर प्रकार का होता है। लालच इसलिए दिया जाता है कि मनुष्य स्वकर्त्तव्य से च्युत हो जाए। किन्तु मनुष्य की श्रेष्ठता इसी में है कि वह न्याय-पथ से न हटे। महाराज दिलीप को हर प्रकार का लालच दिया गया, किन्तु वे कर्त्तव्य से न हटे। प्राप्त वस्तु के त्याग से, अप्राप्त—परन्तु प्राप्य—वस्तु का त्याग अधिक कठिन है।

यद्यपि लालच के सुलभ प्रसंग होते हुए लालच के ऊपर विजय पाने में बहादुरी है, तथापि विज्ञ पुरुष को यही चाहिए कि वह लालच से दूर रहे। ईसाई लोग ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—'या यीशु ! मुझे इम्तिहान में मत डाल।' जहाँ तक हो, थोड़े से भी लालच से बचने का प्रयत्न किया जाए। जो लोग थोड़े लालच पर विजय नहीं पा सकते, वे बड़े लालच से किस प्रकार बच सकते हैं ? हमारे यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी का ज्वलन्त उदाहरण मौजूद है। उन्होंने साम्राज्य

का लालच छोड़ा, पर कर्त्तव्य से विमुख न हुए। यदि वे ज़रा ढील डालते तो महाराज दशरथ तुरन्त अपने विचार से फिर जाते।

यद्यपि लालच में पड़ जाने के उदाहरण विश्वामित्र आदि हैं, तथापि उसके साथ भीष्म पितामह आदि के उपाख्यान में हमारे आदर्श मौजूद हैं। जो लोग लालच से बच सकते हैं, अपनी इच्छाओं को रोक सकते हैं, वे ही शक्ति-सम्पन्न और प्रभावशाली बनने में समर्थ होते हैं।

धैर्य

कठिनाइयों में चित्त को स्थिर रखना धैर्य कहलाता है। मनुष्य का जीवन-पथ कण्टकाकीर्ण है। मनुष्य-जीवन में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं किन्तु उनका सामना ज्ञानी लोग ज्ञान से करते हैं, मूर्ख लोग रोकर करते हैं। कठिन से कठिन स्थिति में प्रसन्न रहना आत्मा की उच्चता का सूचक है। हमको अपनो आध्यात्मिकता का गौरव होना चाहिए कठिनाइयां प्रायः बाह्य होती हैं। यदि हम उन पर विजय पा लें तो अच्छा ही है, और विजय न पा सकें तो उनसे दबकर दुखी होना कायरता है। कठिनाइयों में दुखी होने से वे बढ़ती ही हैं, घटती नहीं। हमको अपनी शक्तियों से निराश न होना चाहिए। कठिनाइयों से दुखित न होना ही उन पर विजय पाना है। कठिनाइयों में दुखित होना अपने विपक्षियों की जीत स्वीकार करना है। राजा हरिश्चन्द्र धैर्य के एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। श्रीरामचन्द्र जी के लिए कहा जाता है कि राज्याभिषेक के

कारण उनको हर्ष नहीं हुआ और वनवास से म्लान-मुख नहीं हुए। इसी से वे जगद्वन्दनीय हो रहे हैं।

सहकारिता

यद्यपि सहकारिता के लाभ प्रत्यक्ष हैं, तथापि कुछ लोग असहकारिता में ही अपना गौरव मानते हैं। लोगों का यह भ्रम है कि सहकारिता में हम अपनी न्यूनता स्वीकार करते हैं। मनुष्य सामाजिक जीव है। उसका अकेले काम चलना अत्यन्त कठिन हो जाएगा। हम नहीं जानते कि हम भी दूसरों की सहकारिता से कितना लाभ उठाते हैं। स्वयं अपनी सहकारिता से दूसरों को वंचित रखना कृतघ्नता है। सहकारिता में मनुष्य की एकता एवं समाज की स्थिति का मूल है। सहकारिता को चरित्र के भीतर इसीलिए रखा है कि उसमें एक प्रकार का वृथाभिमान त्यागना पड़ता है।

सत्य बोलना और वचन का पालन करना

यद्यपि सत्य बोलना सबसे सहज बात है; क्योंकि उसमें नमक-मिर्च के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता, तथापि सत्य बोलने के लिए बड़े आध्यात्मिक बल की आवश्यकता है। जहाँ तक हो, अप्रिय सत्य न बोला जाए; किन्तु जहाँ अप्रिय सत्य न बोलने से समाज के हित की हानि होती है, वहाँ उसको प्रियता के लिए दबाना पाप है। चरित्रवान् पुरुष को अपनी आत्मा में इतना बल रखना चाहिए कि वह सत्य को निर्भयता के साथ कह सके। सत्य मनसा-वाचा-कर्मणा होना चाहिए। जो कहे वही करे, और जो कर सके

वही कहे, तथा कहकर फिर न हटे—"प्रान जाहिं बरु बचन न जाई" का आदर्श अपने सामने रखे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हठवाद करे, किन्तु जब तक वह एक बात को सत्य समझे, उस पर दृढ़ रहे।

कर्त्तव्यपरायणता

सत्य के अतिरिक्त कर्त्तव्य में और भी बहुत-सी बातें आती हैं, अत: शेष में एक व्यापक बात रख दी गई। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कर्त्तव्य क्या है, तथापि मोटी रीति से सब लोग अपना-अपना कर्त्तव्य जानते हैं। जो बातें बचने की हैं उनसे बचना चाहिए, और जो करने की हैं उनको सौ हानि उठाकर भी करना चाहिए। बस यही कर्त्तव्य-परायणता है। अपने कर्त्तव्य में शैथिल्य न डालना चाहिए। जहाँ ज़रा-सा छिद्र हुआ वहाँ समझना चाहिए कि पतन का द्वार खुल गया।

कर्त्तव्य वह नहीं जो केवल कागज़ पर लिखा हो। प्रत्येक स्थिति के अनुकूल अपना कर्त्तव्य निश्चित कर हमको उसके सम्पादन में आरूढ़ रहना चाहिए। हमको केवल कर्त्तव्य ही नहीं वरन् अपने कर्त्तव्य से भी अधिक करने के लिए तैयार रहना चाहिए। अपना पाठ याद करना हमारा कर्त्तव्य है, किन्तु सामने के घर में आग लगी हो तो पाठ याद करने की अपेक्षा आग बुझाना ही हमारा कर्त्तव्य है। वास्तव में जो कुछ हमें करना चाहिए, वही कर्त्तव्य है।

जिस काम को तुम कर सकते हो—फिर चाहे वह दूसरे के करने का ही हो—और यदि तुम देखो कि तुम्हारे न करने

से दूसरे के हित की हानि होती है तो, उसको करना अपना परम कर्त्तव्य समझो। जो तुम्हारा कर्त्तव्य है उससे कदापि न हटो—उसमें चाहे लोग निन्दा करें चाहे स्तुति। कर्त्तव्य के पालन से ही हमारा आत्म-गौरव रह सकता है। आलस्य-वश या लोभवश कर्त्तव्य से च्युत होना ही हमारा पतन है। कर्त्तव्य पालन के लिए प्रतिक्षण अभ्यास का अवसर है। इस अभ्यास को करते रहने से ही हमारी आत्मा शुद्ध एवं पवित्र बनकर उन्नत हो जाएगी। हम अपनी उन्नति आप ही कर सकते हैं। आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है।

८ महात्मा गान्धी की जय

आखिरी सफ़र खत्म हुआ, अंतिम यात्रा समाप्त हो गई। ५० वर्ष से ऊपर हुआ, महात्मा गांधी ने हमारे इस देश में बहुत चक्कर लगाये। हिमालय से, सीमा प्रांत से, ब्रह्मपुत्र से लेकर कन्याकुमारी तक सारे प्रांतों में, सारे देश के हिस्सों में घूमे। खाली तमाशा देखने के लिए नहीं जाते थे, बल्कि जनता की सेवा करने के लिए, जनता को पहचानने के लिए। और शायद कोई भी हिन्दुस्तानी नहीं होगा जिसने इतना, इस भारत देश में, भ्रमण किया हो, इतना यहाँ की जनता को पहचाना हो, और जनता की इतनी सेवा की हो। तो उनकी इस दुनिया की यात्रा खत्म हुई। हमारी और आपकी यात्राएं अभी जारी हैं।

कुछ लोग शोक करते हैं। और शोक करना मुनासिब भी है, उचित भी है। लेकिन शोक किस बात का? गांधीजी के गुजरने का—महात्माजी के लिए या किसी और के लिए? महात्माजी का जीवन और महात्माजी की मृत्यु ऐसी हुई हैं,

दोनों, कि हमेशा के लिए हमारा देश उनकी वजह से चमकता रहेगा।

शोक किस बात का ? हां, शोक है; शोक अपने पर, महात्माजी के ऊपर नहीं। अपने ऊपर, अपनी दुर्बलता पर, हमारे दिल में जो द्वेष है, जो अदावतें, यह जो हम आपस में लड़ाइयाँ लड़ते हैं उन पर। याद रखो, महात्माजी ने किस बात पर अपनी जान दी ? याद रखिये क्या बात पिछले चन्द महीनों से उन्होंने विशेषकर पकड़ी थी ? अब हम जो उनका आदर करते हैं, तो फिर आदर खाली नाम का तो नहीं, उनकी बातों का, उनके उपदेश का और विशेषकर उस बात का जिसके लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया। और फिर हम और आप यहां इस त्रिवेणी से, गंगा-तट से, घर जाकर जरा अपने-अपने दिलों से पूछें कि हमने अपना कर्त्तव्य कितना किया। हमें जो महात्माजी ने रास्ता बतलाया था उसमें कहां तक हम चले, कहां तक हमने आपस में मेल रखने की कोशिश की, कहां तक लड़ाई की। अगर इन बातों पर हम विचार करें और फिर सही रास्ते पर चलें तभी हमारे लिए भला है और हमारे देश के लिए भला है। एक महापुरुष हमारे देश में आये, दुनिया भर को उन्होंने चमकाया, हमारे देश को चमकाया और फिर हमारे देश के और हमारे एक भाई के हाथ से उनकी हत्या हुई। क्या बात है ? आप सोचें, एक आदमी पागल होता है या न हो; लेकिन क्या बात है कि इस आदमी ने हत्या की। इसलिए कि इस देश में इतना विष फैलाया गया है, ऐसा ज़हर फैलाया गया है, एक-दूसरे के दिलों

में, एक-दूसरे के विरुद्ध, खिलाफ, दुश्मनी, लड़ाई-झगड़े का। उस विष में से यह सब जहरीले पौधे निकल रहे हैं। अब आपका हमारा काम है कि उस जहर को खत्म करें। हमने अगर महात्माजी से कुछ सबक सीखा है तो किसी एक व्यक्ति से, एक शख्स से, दुश्मनी का सवाल नहीं है। हम किसी से दुश्मनी नहीं करेंगे, लेकिन जो बुरा काम है, जो जहरीली बात है, उससे दुश्मनी करेंगे, उसका मुकाबला करेंगे और उसको हरायेंगे। यह सबक हमने सीखा महात्माजी से। हम तो कमजोर लोग हैं, फिर भी उनके साथ रहकर कुछ बड़प्पन हममें भी आ गया। उनकी साया में हम भी कुछ लोगों को लम्बे-चौड़े मालूम होने लगे। लेकिन असल में तेज उनका था। प्रताप उनका था, शक्ति उनकी थी और रास्ता उनका था। कुछ लड़खड़ाते, ठोकर खाते हम भी उस रास्ते पर चले इसलिए कि हम भी कुछ सेवा कर सकें। देश का अब वह सहारा गया, लेकिन कैसे मैं कहता हूं कि वह सहारा गया ? क्योंकि जो यहां आज लाखों आदमी मौजूद हैं उनके अन्दर से और देश के करोड़ों आदमियों के दिल में से क्या गांधीजी की तस्वीर हटेगी ? आज नहीं, क्योंकि आज जिन करोड़ों लोगों ने उनको देखा है, वे याद रखेंगे। आगे और नस्लें आएंगी, पौधे आएंगे, जिन्होंने अपनी आंखों से उन्हें नहीं देखा, लेकिन फिर भी उनके दिल में यह तस्वीर जमी रहेगी; क्योंकि देश के इतिहास में वह जम गई है। आज गांधी-युग एक तरह से कहा जाता है खत्म हुआ, जो ३०-४० वर्ष हुए भारत में शुरू हुआ था। लेकिन खत्म कैसे हुआ, समाप्त कैसे हुआ ? वह तो एक तरह

से, दूसरे ढंग से अब शुरू हुआ है। अब तक उनकी साया में हम उनका सहारा लेते थे, बहुत उनसे मदद मिलती थी। अब हमें और आपको अपनी टांगों पर चलना है। हां, उनके उपदेश का सहारा लेना है, उनकी याद का सहारा लेना है, उनसे थोड़ा-बहुत जो कुछ सीखा है उसको सामने रखकर सहारा लेना है। और सहारा तो उनका काफी है; लेकिन अब अपनी टांगों पर चलना है और विशेषकर जो उनका आखिरी उपदेश है, संदेश है, उसको याद रखना है और वह यह कि हमें डरना नहीं चाहिए। हमेशा वह सिखाते थे कि अपने दिल में से डर निकालना, अपने दिल में से द्वेष निकालना, लड़ाई-झगड़ा एक-दूसरे से बन्द करना, अपने देश को आजाद करना। और उन्होंने हमारे देश को आजाद कराया, स्वराज्य लिया। स्वराज्य लिया और उन्होंने ऐसे तरीके से लिया कि सारी दुनिया में आश्चर्य हुआ। वह हमें मिला तो, लेकिन मिलते वक्त पर हम उनका सबक भूल गए, बहक गये और लड़ाई-झगड़ा किया और देश का नाम बदनाम किया। आजकल कितने नौजवान हमारे यहां हैं जो बहके हुए रास्ते से न जाने क्या-क्या नारे उठाते हैं। गलत बातें करते हैं। तो वे नौजवान तो हमारे हैं, इस देश के, उन्हें हमें बनाना है। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं कि यह जो जहर द्वेष का फैला हुआ है, लोगों के दिलों में, जो कहता है कि हिन्दू को मुसलमान से लड़ना, मुसलमान को हिन्दू से लड़ना, या सिख को और किसी से, जो हममें धार्मिक झगड़े पैदा करता है या धर्म के नाम पर राजनैतिक झगड़ा पैदा

करता है, जो कुछ हो, वह चीज़ बुरी है, वह जहर बुरा है। उसने हमारे देश को नीचा दिखाया है और हमारे देश को और आगे देश की आज़ादी को तबाह करेगा अगर हम होशियार नहीं होते। इसलिए हिन्दुस्तान को होशियार करने के लिए महात्माजी ने अभी कितने दिन हुए, दो-तीन सप्ताह ही तो हुए, उपवास किया कि जनता जागे, जिधर देश जा रहा है, उधर रुके। कुछ जनता जागी, कुछ हम लोगों ने और जनता के प्रतिनिधियों ने जाकर उनसे इकरार किया, प्रतिज्ञा की कि हां, हम इस गलत रास्ते पर नहीं चलेंगे। उन्होंने अपना व्रत, उपवास खत्म किया। किसको मालूम था उस समय कि थोड़े ही दिन में यह एक ज्यादा लम्बा सिलसिला शुरू होगा उपवास का, मौन का। एक दिन वह मौन रखते थे सप्ताह में, पर आज हमेशा के लिए हमारे और आपके लिए वह मौन हो गए। तो आखिरी सबक उनका यह था इस लड़ाई-झगड़े को रोकना। और बहुत-कुछ लोग उस सबक को समझे, आप और हम भी सब समझे और देश भी समझा; क्योंकि आप यह याद रखिये कि अगर ऐसा लड़ाई-झगड़ा जारी हुआ, अगर ये बातें हमारे देश में हुईं, जिनका एक नमूना और बहुत ही खतरनाक नमूना महात्माजी की मौत है यानी क्या कि हमारे देश में लोग हाथ उठायें, दूसरे की हत्या करें; दूसरे की, और कैसे की, ऐसे महापुरुष की, इसलिए कि उसकी राय से वह नहीं सहमत था, इसलिए कि वह राजनीति में उसको सही नहीं समझता था, तो यह बड़ा खतरनाक रास्ता है, अगर हमारा देश इसमें पड़ा, एक दूसरे को मारने के लिए। इसलिए

क्योंकि हम कहते हैं कि हमारे देश में जनता का राज्य हो, उसके माने क्या हैं ? हम एक-दूसरे को समझें, सारी जनता अपना प्रतिनिधि चुने और जो बात वे निश्चय करें वह बात की जाय। अगर इस तरह हम एक-दूसरे को समझकर नहीं चलते और हर एक आदमी एक-दूसरे से लड़ता है तो देश क्या ? वह देश तो तबाह हो जाता है। यहां बहुत सारे सिपाही बैठे हैं, हमारे देश की फौज के सिपाही, हिन्दुस्तानी फौज के सिपाहियों को अपने देश की आजादी और देश के लिए गरूर करना उनका कर्त्तव्य है। देश की सेवा करें, देश की रक्षा करें। अगर वह सिपाही एक-दूसरे से लड़ा करें तो फौज की फौज खत्म हो जाएगी। फिर फौज की शक्ति तो नहीं रही, ताकत तो नहीं रही। इस तरह से देश की ताकत और देश की शक्ति एक-दूसरे से लड़ने से गिरती है। जो बातें हों उनका मिलकर फैसला करना, एक-दूसरे को समझाकर, यही ठीक स्वराज्य होता है। तो इस राय में जो लोग नहीं चलना चाहते वे दूसरे रास्ते पर चलते हैं, किन्तु जब वे हमें और आपको नहीं समझा सकते तो वे फिर तलवार और बन्दूक लेकर लोगों को मारना शुरू कर देते हैं, अपने भाइयों को, क्योंकि जनता उनके विरूद्ध है। अगर जनता उनके विरूद्ध न हो तो वे फिर जनता के बल पर हकूमत की कुर्सी पर बैठ सकते हैं। लेकिन जब वे जानते हैं कि जनता इसके विरोध में है और जनता को इस तरफ नहीं ला सकते, तब ऐसी बातें करते हैं, झगड़ा-फसाद करके, ताकि उसमें उलट-फेर हो तो उससे वे कोई फायदा उठाएं।

लेकिन यह तो ऐसे बचपने की बात है कि कोई लोग इस तरीके से मारपीट करके यहां की हकूमत को बदल सकते हैं या यहां भारत में उलटफेर कर सकते हैं, यह तो कोई आदमी जो बिलकुल समझता नहीं है, वह ऐसी बात कह सकता है। फिर भी ऐसी बात हुई तो क्यों हुई ? इसलिए कि काफी लोग हमारे देश में और एसे लोग जो ऊँची पदवियों पर हैं, नीचे हैं, और हर जगह हैं, उन्होंने इस फ़िजा को, जहरीले विष को फ़िजा को, देश में बढ़ाया। अब हमारा और आपका काम है कि इस जहर को पकड़ें और इस जहर को खत्म करें, नहीं तो याद रखिए यह देश इस जहर में डूब जायगा। मुझे विश्वास है कि हम इसका विरोध पूरी तरह करेंगे और अगर हमारे हाथ-पैर कमजोर थे, दिल कमजोर था तो यह देखकर कि महात्माजी की मृत्यु हुई है, आपमें और मुझमें से कितने ऐसे आदमी हैं जो इस बात की प्रतिज्ञा नहीं करते कि हम इस बात को नहीं होने देंगे, झगड़े-फसाद को, जिसके लिए महात्माजी मरे और जिससे हमारे देश का, दुनिया का महापुरुष मरा। इस बात को जहाँ तक हम में ताकत है पूरा करेंगे।

तो आप-हम सब यहाँ इस गंगा के तट से वापस जायेंगे। और दिल उदास है, अकेलापन है, विचार आता है कि अब कभी गांधाजो को नहीं देखेंगे। दौड़-दौड़कर हम उनके पास आते थे जब कोई दिल में परेशानी हो, जब कोई बड़ा प्रश्न हो और समझ में न आये कि क्या करें, उनसे सलाह लेते थे। अब कोई सलाह देनेवाला नहीं है। न कोई हमारे बोझों को उठाने वाला है।

मेरे नहीं, ग्रापके ग्रौर हम सबों के। हमारे देश में जाने कितने हजार या लाख पुरुष उनको अपना मित्र समझते थे, उनके पास दौड़-दौड़कर जाते थे। सभी उनके एक बच्चे-से हो गये थे। इसलिए उनका नाम हो गया 'राष्ट्रपिता'। ग्रौर वह तो हमारे देश के पिता हैं ग्रौर देश के घर-घर में, लाखों-करोड़ों घरों में, ग्राज उतना ही शोक है जितना की पिता के जाने से होता है। तो हम यहां से जायेंगे उदास होकर, ग्रकेले होकर। लेकिन उसके साथ हम यहाँ से जायेंगे एक गरूर लेकर—इस बात का कि हमारे देश में, हमारा नेता ऐसा एक महापुरुष था कि उसने सम्पूर्ण देश को कितनी दूर तक पहुंचाकर सच्चाई के रास्ते पर लगाया ग्रौर हम को लड़ाई का तरीका बताया वह भी हमेशा सच्चाई का था। याद रखिये यह जो रास्ता उन्होंने हमें दिखलाया वह लड़ाई का था, वह चुपचाप हिमालय की चोटी पर बैठनेवाले महात्मा का नहीं था। वह हमेशा ग्रच्छे कामों के लिए लड़ाई करने वाले थे, लेकिन लड़ाई उनकी सच्चाई, सत्य, ग्रहिंसा ग्रौर शान्ति की थी, जिसमें उन्होंने चालीस करोड़ ग्रादमियों को ग्राजाद कराया। तो हमें शांत नहीं रहना है, इस तरह से कि चुपचाप हम जाकर छिप जायें। हमें ग्रपना कर्त्तव्य पूरा करना है ग्रौर जो कुछ हमारा एक फ़र्ज़ है उसको ग्रदा करना है। ग्रौर फ़र्ज़ हमारा यह है कि जो हमने उनसे प्रतिज्ञा की है, जो हमारे देश में यह विष फैला है, खराबियाँ पैदा हुई हैं, उनको हटाकर हम सच्चाई के रास्ते पर, धर्म के रास्ते पर चलें। हम इस देश को ऐसा बनायें, स्वतन्त्र ग्रौर ग्राजाद हिन्दुस्तान, जिसमें हर एक ग्रादमी, हर एक धर्म का

खुशी से रहे, मिलकर रहे और एक-दूसरे की सहायता करे और दुनिया को भी हम रास्ता दिखायें। यह प्रतिज्ञा करके हम यहां से जायें तो हमारे लिए भला है। हमने एक बड़ा सबक तो सीखा और अगर हम इस बात को नहीं कर सकते, दुर्बलता में पड़ते हैं तो फिर यह कहा जायगा कि एक महापुरुष आया, लेकिन जनता उसके योग्य नहीं थी, बहकती थी, छोटी थी और उसके बड़ेपन को भी नहीं समझती थी।

'महात्मा जी की जय' आपने और हमने इस तीस-चालीस वर्ष में कितनी बार पुकारी। सारे देश में वह आवाज गूंजी। वह आवाज सुनकर महात्मा जी का दिल दुखता था। क्योंकि वह अपनी जय क्या चाहें? वह तो विजयी पुरुष थे। उनकी जय आप क्या करेंगे? जय हमारी और आपकी होने वाली है और इस देश, बदकिस्मत देश की, जो जय कहकर ऐसी बात करते हैं जिससे देश कीचड़ में गिर जाता है। उनकी जय तो है, हमेशा के लिए, हजार दस हजार वर्ष तक उनका नाम लिया जायेगा एक विजयी पुरुष की हैसियत से। जय हमारी और आपकी वह चाहते थे। इसलिए देश की, जनता की और विशेषकर देश की गरीब जनता की। किसान बिचारे, हमारे हरिजन भाई, जो कोई दरिद्र हों, जो कोई गरीब हों, उनकी वह सेवा करते थे, वह उनको जाकर उठाते थे। उनके ढंग से उन्होंने अपना रहन-सहन बनाया और कोशिश की कि देश में कोई नीचा न हो। दरिद्रनारायण की वह चर्चा करते थे। इस तरीके से उन्होंने आपकी और हमारी जय चाही थी, देश की जय चाही थी लेकिन हमारी और आपकी, देश की जय

ग्रौर कोई तो नहीं कर सकता। वह तो हम ग्रपने बाहुबल से कर सकते थे। तो उन्होंने हमें मन्त्र पढ़ाया, सिखाया कि हम क्या करें ग्रौर क्या न करें। कैसी जय वह चाहते थे, खाली ऊपरी जय नहीं, जैसी कि ग्रौर देशों में होती है कि जरा गुलशोर मचाकर, हुल्लड़, बेईमानी करके, या कुछ तलवार-बन्दूक भी चलाकर हमारी जीत जरा सी हो जाय। वह जीत बहुत दिनों तक चलती नहीं ग्रौर जिसे देश भी हल्के-हल्के सीख रहे थे कि विजय एक देश की ऐसी बड़ी बुनियाद पर, सच्चाई पर ग्रटल है, जिसके ऊपर हम ग्राज बड़ी इमारत बनायें, तो वह कभी गिर नहीं सकती; क्योंकि बुनियाद मज़बूत है। ग्राजकल की दुनिया में क्रांति होती है, इन्कलाब, उलट-पलट, कभी देश नीचे है, कभी ऊंचे, फ़रेब है, झूठ है, दगाबाजी है, यह ग्राजकल की राजनीति है। उन्होंने हमें दूसरी राजनीति सिखाई, सच्चाई ग्रौर ग्रहिंसा की, एक-दूसरे से प्रेम करने की। उन्होंने हमें यह बतलाया है कि यह जो भारत देश है, इसमें बहुत सारे धर्म, मजहब हैं, बहुत दिनों से रहते हैं, वह सब भारत के हो गए हैं, विदेश के नहीं। ये सब हमारे हैं, ये सब हमारे भाई हैं, हमें मिलकर रहना है, किसी को ग्रधिकार न हो कि वह दूसरे के ग्रधिकार पर कब्जा करे, किसी को ग्रधिकार न हो कि वह किसी दूसरे का हिस्सा ले। हमारी जनता का राज्य हो, उसमें सारे तीस चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों का बराबर भाग हो। यह नहीं कि थोड़े से ग्रमीर लोग उसके बड़े हिस्सेदार हो जाएं ग्रौर सारी हमारी जनता गरीब हो। यह स्वराज्य महात्मा जी का नहीं था।

ग्राम जनता का स्वराज्य एक कठिन बात है। लेकिन हल्के-हल्के हम इस तरफ जा रहे हैं और उनका सबक सीखकर और उनकी शक्ति और तेज लेकर हम भी हल्के-हल्के बढ़ते हैं। लेकिन अब उनका यह आखीरी सबक देखकर समय आ गया है कि हम ज्यादा चुस्ती से आगे बढ़ें और समझ और उनकी खराबियों को खत्म करें और फिर आगे बढ़ें। तब असल में हम और आप बहुत जोरों से और सच्चाई से कह सकेंगे कि 'महात्मा गान्धी की जय !'

९ अपाहिजों की सेवा

जगत् में अक्सर कितने ही मनुष्य अंगहीन, अपंग, लुंज-पुंज या अपाहिज देखने में आते हैं। कुछ तो जन्म से ही और कुछ किसी-न-किसी बीमारी से, या युद्ध में, या किसी दैवी दुर्घटना से अपाहिज हो जाते हैं। जो आंखें होते हुए भी अन्धे, कान होते हुए भी बहरे, और हाथ-पैर होते हुए भी अपंग कहे जा सकते हैं, उनकी हमें यहां चर्चा नहीं करनी। जन्म से ही या किसी न किसी कारण से जो अन्धे, बहरे, गूंगे, या किसी अंग से या अंगों से हीन हो जाते हैं, उनके प्रति हमारी कहां तक सहानुभूति जाती है, और उनका किस प्रकार क्या-क्या हित-साधन किया जा सकता है, इस पर हमारी मानवोचित कर्तव्य-निष्ठा निर्भर करती है।

करुणा और सेवा के पात्र अंगहीनों को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से भी देखने का दुर्विचार समाज में रहा है। कहते हैं कि प्राचीन काल में बहरों, गूँगों को कानूनी और धार्मिक अधिकारों से वंचित रक्खा जाता था, और कभी-कभी

तो प्राचीन स्पार्टा और एथेन्स-जैसे ग्रीक राज्यों में उनको भू-भार समझकर मार भी डाला जाता था। आज भी कितने ही लोग मानते हैं कि पूर्व जन्म में अमुक मनुष्य ने कोई न कोई बड़ा पाप किया होगा, तभी तो उसे अंगहीन होना पड़ा। कोढ़ियों को तो लोग आज भी घृणापूर्वक घरों से बाहर निकाल देते हैं, और वे भीख माँग-माँगकर अपना कष्टमय जीवन बिताते हैं। काने मनुष्य का दर्शन अशुभ समझा जाता है। गूंगे के अटपटे इंगितों पर लोग हँसते हैं। पक्षाघात से जिसका आधा शरीर बेकार हो जाता है, वह अभागा भी दूसरों के विनोद की चीज़ बन जाता है।

परमेश्वर के अपार सामर्थ्य का गुण-गान करते हुए हम कभी-कभी अन्धों का, बहरों का और लूले-लंगड़ों का स्मरण कर लेते हैं। कौन जाने कि ईश्वर की कृपा से किसी जन्मान्ध को दृष्टि, वधिर को श्रवण-शक्ति, मूक को वाणी और पंगु को पर्वत लाँघने का बल मिला होगा या नहीं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान ने इस प्रकार का अघटित भी घटित करके दिखा दिया। मनुष्य के अज्ञान ने तो अंगहीनों और अपाहिजों को उपेक्षा और घृणा का पात्र बना ही डाला था, किन्तु ज्ञान-विज्ञान के अपार अनुग्रह से लंगड़े ने टाँगे पाई, जन्मान्ध को दृष्टि मिली, बज्रवधिर को श्रवण-शक्ति सुलभ हुई, और अत्यन्त मूक की रसना पर वाणी की वीणा झंकृत हो उठी।

अंगहीनों द्वारा एक-दूसरे की सहायता करना कोई नई बात नहीं है। अन्धे ने लंगड़े को कंधे पर बिठाया, तब एक

को दृष्टि मिली और दूसरे को गति। प्रकृति ने भी उन्हें वरदान दिए। जन्मान्ध के अन्तर में बुद्धि यहां तक जाग्रत कर दी कि वह प्रज्ञाचक्षु बन गया। सूरदास की अन्तर्ज्योति की थाह हजारों-लाखों आँखें आज तक न पा सकीं। काव्य, कला और संगीत में ही नहीं, कितने ही अन्धे बिना शिक्षण पाए ही उद्योग-कलाओं में भी पारंगत हो जाते हैं। यह हुआ प्रकृति का प्रसाद।

अनेक साधु-संतों ने उपेक्षित और तिरस्कृत नेत्रहीनों और गलितांग कोढ़ियों को हृदय से लगाया, उनके घावों को धोया—जैसे बुद्ध ने, ईसा ने, चैतन्य ने और गाँधी ने।

यूरोप में अन्धों को पढ़ाने-लिखाने का काम सातवीं शताब्दी में ही शुरू हो गया था, जो १९वीं शताब्दी में और आगे बढ़ाया गया। कई शिक्षण-पद्धतियों के आविष्कार हुए पर 'ब्रेल-पद्धति' ने सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई। बाद में अन्धों को न केवल प्रारम्भिक शिक्षा बल्कि उच्च शिक्षा तक दी जाने लगी। उनके लिए उद्योग-शिक्षण की संस्थाएँ भी खोली जाने लगीं। भारत में इस कार्य को सबसे पहले मिशनरियों ने हाथ में लिया। आज देश में ऐसी चालीस संस्थाएँ हैं जो लगभग १,५०० जन्मान्ध बच्चों को शिक्षित करने का काम कर रही हैं। किन्तु बीस लाख अन्धों की भारी संख्या को देखते हुए यह कार्य अभी समुद्र में बूंद के समान ही कहा जाएगा।

गूंगों को वाचाल और बहरों को श्रुतिवान् बनाने के लिए भी संसार में इसी प्रकार के अनेक सफल प्रयोग और प्रयत्न किये गये हैं और किये जा रहे हैं। यूरोप में मूक और बधिर

व्यक्तियों में शिक्षण का आरम्भ सेंट जॉन ऑफ़ बैवरली ने ७०० ई० में किया था परन्तु इस शिक्षण-पद्धति का विकास १७वीं शताब्दी में ही हुआ। हमारे देश में इस समस्या की ओर अभी कम ही ध्यान गया है। फिर भी ३८ शिक्षण-संस्थाएँ विभिन्न स्थानों पर काम कर रही हैं। मगर शिक्षकों के प्रशिक्षण केन्द्र एक-दो ही हैं। गूँगों, बहरों को उच्च शिक्षा भी दी जाने लगी है। पश्चिम के कई देशों में इनको कल-कारखानों में भी काम दिया जाता है।

कुष्ठ रोग से जिन व्यक्तियों के हाथों और पैरों की अंगुलियाँ गल जाती हैं, उनके उपचार के भी सेवा-केन्द्र हमारे देश में कई स्थानों पर काफी अच्छा कान कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुष्ठियों के सेवा-कार्य को अच्छे तपे हुए जनसेवक ही मिशनरी भावना से होकर सफलतापूर्वक कर सकते हैं। गैर-सरकारी संस्थाओं में कुष्ठ-निवारण-संघ इस क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रहा है। मिशनरी संस्थाएँ तो पहले से ही कुष्ठ-रोगियों की सराहनीय सेवा कर रही हैं। कई संस्थाओं में कुष्ठ रोगी संस्था पर भार न रहकर बहुत-कुछ अंशों में स्वावलम्बी बन गए हैं। एक संस्था में तो उन्होंने अपनी अध-गली अंगुलियों से भी चरखे पर इतना सूत कात लिया कि जिससे उनके कपड़े तैयार हो गए। और खेत पर मेहनत करके उन्होंने अनाज और साग-सब्जियाँ भी पैदा कर लीं।

लूले-लंगड़े और पक्षाघात के शिकार व्यक्तियों के लिए भी कुछ संस्थाएँ कई स्थानों पर सेवा-कार्य कर रही हैं।

अपाहिजों की सेवा का एक दूसरा प्रकार भी है, जिसे धार्मिक कहा जाता है। वह यह कि कई स्थानों पर अन्धों व अपाहिजों को नित्य इसलिए भोजन दिया जाता है कि वे चार-चार छः-छः घंटे लगातार जोर-जोर से भगवान् के नाम का भजन करें यद्यपि रामनामोच्चारण के साथ-साथ वे सूत कात सकते हैं, कपड़ा बुन सकते हैं, चक्की चला सकते हैं, और ऐसा ही कोई-न-कोई अन्य उपयोगी काम भी कर सकते हैं। किसी चौराहे पर या सड़क के किनारे, बिना कुछ काम लिए ही पचासों अपाहिजों को रोटियाँ खिलाने के दृश्य अक्सर देखने में आते हैं। सहायता से उनकी दशा को और भी अधिक दयनीय बना दिया जाता है और वे अपने आपको शरीर से ही नहीं मन से भी अपंग या अपाहिज मानने लग जाते हैं, और उनकी क्रिया-शक्ति बुरी तरह कुण्ठित हो जाती है।

अंगहीनों या अपाहिजों का प्रश्न राष्ट्र का एक बड़ा महत्वपूर्ण और आवश्यक प्रश्न है। संसार के कितने ही देशों में इस प्रश्न को जिस तत्परता से और आयोजित ढंग से हल किया जा रहा है उसकी तुलना में हमारे देश में अभी बहुत कम काम हुआ है। यह प्रश्न केवल दया-भावना से हल करने का नहीं, किन्तु एक ऐसी बड़ी और पवित्र जिम्मेदारी का प्रश्न है जिसे उतना सरकारी ढंग से नहीं जितना कि गैर-सरकारी ढंग से और सामाजिक कर्तव्य-पालन की दृष्टि से तत्काल हाथ में लेना चाहिए। अन्धों को ही लीजिए। किसी बीमारी से या ऐसे ही किसी अन्य कारण से अन्धे हो जाने वाले लोगों में से ५० से ६० प्रतिशत तक का सफलतापूर्वक

उपचार किया जा सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस दिशा में काम खासा अच्छा हो रहा है। देश के हर भाग में चक्षुदान का मंगलकार्य जब और भी अधिक संगठित और आयोजित रूप में किया जाएगा, तभी यह विषम समस्या हल हो सकेगी।

ग्रेट ब्रिटेन में तो यह प्रश्न ७० प्रतिशत तक हल किया जा चुका है। सेवा और उपचार से भी अधिक महत्व का प्रश्न है अन्धों, गूँगों, बहरों, और दूसरे अपाहिजों को आदरपूर्वक कुछ-न-कुछ काम देना और दिलाना। एहसान की भावना से नहीं, बल्कि जिस प्रकार साधारणतया बेरोज़गारों को काम पर लगाना हरेक राष्ट्र का फर्ज होता है, उसी प्रकार अंगहीनों या अपाहिजों को कुछ चुने हुए उद्योगों का शिक्षण देकर छोटे-बड़े कारखानों में काम दिया जा सकता है। उनको धरती का भार न माना जाए, और न दर-दर की भीख माँगने को लाचार किया जाए। वे भी भू-माता के वैसे ही आदर-पात्र पुत्र हैं जैसे कि दूसरे। गूँगों, बहरों को बढ़ईगिरी, बुनाई, सिलाई, लुहारगिरी, जिल्दसाजी, छपाई व रंगाई के काम सिखाए जा सकते हैं और उनको बेकारी और भुखमरी और तिरस्कार के जीवन से बचाकर उद्योग-धन्धों में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार अन्धों को भी कई उपयोगी हुनर सिखाए जा सकते हैं, और उनको लाचारी के दयनीय जीवन से बचाया जा सकता है। यदि उनको शिक्षण दिया जाए, तो वे जिल्द बाँध सकते हैं, सिलाई कर सकते हैं, अखबार बेच सकते हैं और पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन भी कर सकते हैं।

ऐसे बहुत-से काम तो वे कर ही सकेंगे जिनमें दिमाग़ लगाने की बहुत ज़रूरत न होती हो। एक प्रसिद्ध मोटर कम्पनी में ११,००० अपाहिज काम कर रहे हैं, जिनमें से लगभग १,२०० अन्धे हैं।

हमारी अपनी आँखों की सफलता तभी है जब कि हम अंगहीन और अपाहिजों के जीवन का कर्त्तव्य-भावना से वास्तविक दर्शन करें, हमारे कानों की कृतार्थता तभी मानी जा सकती है जब हम मूक प्राणियों की अन्तर्वाणी को ध्यान से सुन सकें और हमारी वाणी की भी सार्थकता तभी हो सकतो है जब कि हम अंगहीनों या असमर्थों के मंगल के लिए भगवान् से प्रार्थना करें। यदि हम इतना न कर सकें और अपनी आंखों से जगत् का अमंगल ही देखते रहें, और अपने कानों से सदा पर-निन्दा ही सुनते रहें, और वाणी से दुर्वचन कहते रहें, तब तो हम आँखवालों, कानवालों और ज़बानवालों से वे तीन बन्दर ही अच्छे हैं जिनमें से एक ने तो अपनी आँखों को हाथ से मूंद रक्खा है, दूसरे ने कानों में अंगुलियाँ दे रक्खी हैं, और तीसरे ने मुंह पर हाथ रख रक्खा है।

१०

'समय नहीं मिला !'

"मुझे आपका काम बराबर याद था, पर क्या करूँ, बिलकुल समय ही नहीं मिला। क्षमा करें !"

"खैर कोई बात नहीं, पर फिर कब हाजिर होऊँ ?"

"कल इसी वक्त आ जाइए ! आज ज़रूर समय निकालने की कोशिश करूँगा।"

कुछ इसी तरह की बातें न मालूम कितने लोगों को सुननी पड़ती हैं, पर अकसर न कल कभी आया और न महाशय जी को काम पूरा करने का वक्त ही मिला ! हो सकता है कि वे सचमुच काफ़ी व्यस्त रहते हों और उन्होंने समय निकालने का प्रयत्न भी किया हो; पर ज्यादातर लोग कुछ न करते रहने ही में मशगूल रहा करते हैं और टालमटोल करने की उन्हें आदत ही पड़ जाती है।

"आपका पत्र यथासमय मिल गया था; पर इन दिनों बहुत काम रहने के कारण मैं जल्द जवाब न दे सका। क्षमा करें।" इस तरह के पत्रों की भी संख्या बेशुमार ही रहती है।

इस प्रकार लिखने की कुछ फैशन ही हो गई है ! पर लोग भूल जाते हैं कि अगर बड़े आदमियों को वक्त न मिलने की वजह से पत्रों का उत्तर देने में देर भी हो जाती है तो इसका यह मतलब नहीं कि जो व्यक्ति खतों का जवाब देरी से देता है वह इसी कारण बड़ा बन जाता है । और मेरा तो यह भी अनुभव है कि जो लोग सचमुच बड़े हैं और बहुत व्यस्त रहते हैं उनका पत्र-व्यवहार भी बहुत व्यवस्थित रहता है । उनका जीवन नियमित रहता है और वे रोज का काम उसी दिन समय पर निपटा देते हैं । अगर किसी सज्जन का जवाब मुझे वक्त पर नहीं मिलता है तो मैं या तो यह समझ लेता हूँ कि शायद डाक-घर की कुछ गलती से पत्र ही देर में पहुँचा, या न भी पहुँचा हो, या फिर महाशय जी का जीवन ही अस्त-व्यस्त और ढीला होगा । वे पत्र पढ़कर कहीं इधर-उधर डाल देते होंगे और या तो फिर उन्हें जवाब देने का ख्याल अकसर नहीं रहता होगा या उत्तर देने के वक्त पत्र ही नहीं मिलता होगा । जो हो, समय न मिलने का बहाना अकसर अपनी कमजोरी और अनियमितता को ढाँपने के लिए दिया जाता है, और तारीफ के बजाय वह एक शर्म की ही बात समझना चाहिए । समय का अपमान करके न कोई बड़ा बन सका है और न बन सकेगा ।

एक बार अंग्रेजी के मशहूर साहित्य-सेवी, डॉ० जॉनसन के पास उनका एक मित्र आया और अफसोस जाहिर करने लगा कि उसे धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने के लिए समय ही नहीं मिलता ।

"क्यों ?" डॉ० जॉनसन ने फौरन पूछा।

"आप ही देखिये, दिन-रात मिलाकर सिर्फ चौबीस घण्टे होते हैं, उसमें से आठ घंटे तो सोने में ही निकल जाते हैं।"

"पर यह बात सब ही के लिए लागू है।" डॉ० जॉनसन ने कहा।

"और करीब आठ ही घंटे आफिस में काम करना पड़ता है।"

"और बाकी आठ घण्टे ?" डॉ० जॉनसन ने पूछा।

"इन्हीं आठ घंटों में खाना-पीना, हजामत बनाना, नहाना-धोना, आफिस आना-जाना, मित्रों से मिलना-जुलना, चिट्ठी-पत्री का जवाब देना, इत्यादि-इत्यादि कितने काम रहते हैं ! मैं तो बड़ा परेशान हूँ !"

"तब तो मुझे भी अब भूखों मरना पड़ेगा।" डॉ० जॉनसन एक गहरी साँस लेकर बोले।

"क्यों ? क्यों ?" उनके मित्र ने तुरन्त पूछा।

"मैं काफी खाने वाला आदमी हूँ और अन्न उपजाने के लिये दुनिया में एक-चौथाई ही तो ज़मीन है, तीन-चौथाई तो पानी ही है। और संसार में मेरे जैसे करोड़ों लोग हैं जिन्हें अपना पेट भरना पड़ता है।"

"पर इतने लोगों के लिए फिर भी तो ज़मीन काफ़ी है।"

"काफ़ी कहाँ है ? इस एक-चौथाई ज़मीन में कितने पहाड़ हैं, ऊबड़-खाबड़ स्थल हैं, नदी-नाले हैं, रेगिस्तान और बंजर भूमि हैं ! अब मेरा भी कैसे निभ सकेगा भगवान् !" मित्र महोदय बड़ी हमदर्दी के साथ डॉ० जॉनसन को दिलासा देने

लगे कि उन्हें परेशान होने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है ! दुनिया में करोड़ों लोग रहते आये हैं और उन्हें सदा अन्न मिलता ही रहा है ।

"आप ठीक कहते हैं भाई ! पर अगर मेरे भोजन का इन्तजाम हो सकता है तो आपको धार्मिक किताबें पढ़ने का भी समय अवश्य मिल सकता है," डॉक्टर जॉनसन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया ।

डॉ० जॉनसन के मित्र तो कभी के चल बसे और उनका नाम भी अब कोई नहीं जानता; पर उनकी नस्ल तो दिन-दिन बढ़ती ही जा रही है !

अंग्रेजी की मशहूर कहावत है कि "समय धन है ।" पर असल बात तो यह है कि समय धन से कहीं ज्यादा अहम चीज़ है । हम रुपया-पैसा तो कमाते ही हैं और जितनी ज्यादा मिहनत करें उतना ही—अगर किस्मत खराब न हो—ज्यादा धन कमा सकते हैं । लेकिन हज़ार परिश्रम करने पर भी क्या हम चौबीस घंटों को एक भी मिनट से बढ़ा सकते हैं ? इतनी कीमती चीज़ का फिर धन से क्या मुक़ाबला ! पर ईश्वर की यह भी कृपा है कि जहां वक्त बढ़ाया नहीं जा सकता वहां लाख कोशिशें करने पर वह घटाया भी नहीं जा सकता । आजकल की विचित्र आर्थिक-व्यवस्था में हमारे धन की कीमत रोज घट-बढ़ सकती है । अगर बैंक जवाब दे दें तो करोड़पति मिनटों में गरीब और भिखमंगा भी बन सकता है । किन्तु कुदरत का इन्तजाम नहीं बिगड़ता । समय के सागर में शेअर-बाजार की तरह दिन में कितने ही बार ज्वार-भाटा नहीं

आता। धन की दुनिया में अमीर-गरीब, बादशाह-कंगाल का फ़र्क है। पर खुशक़िस्मती से समय के साम्राज्य में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है। वक्त के निज़ाम में सब बराबर हैं, उसमें आदर्श लोकतन्त्र है। फिर भी हम उसका महत्व नहीं समझते।

सन् १९३२ की बात है। महामना मालवीयजी ने उन दिनों प्रयाग में 'एकता सम्मेलन' बुलाया था। देश के बहुत से नेता दूर-दूर से सम्मेलन में शरीक होने के लिए पधारे थे। मैं तो उन दिनों यूनिवर्सिटी में विद्यार्थी था और नेताओं के दर्शन करने व उनके हस्ताक्षर लेने की लालसा से ही सम्मेलन के स्थान पर जाया करता था। वह सम्मेलन सफल नहीं हो सका, उसका खास कारण तो ब्रिटिश सरकार का राजनैतिक दावपेंच ही था। पर एक बात की ओर भी हमारा ध्यान गये बिना न रहा। सम्मेलन में शरीक होने के लिए नेता निश्चित समय पर ही आया करते थे पर मालवीयजी की अनुपस्थिति के कारण वे थोड़ी देर राह देखकर तितर-बितर हो जाते थे। उन्हें खबर मिलती कि अभी मालवीयजी के आने में दो घण्टे की देर है। समय की इस गैर-पाबन्दी के कारण मैंने कई नेताओं को हताश व परेशान होते देखा। कई लोग तो निराश होकर बीच ही में सम्मेलन का कार्य छोड़कर चले भी गए।

पर हमारी बदक़िस्मती से इस तरह के अनुभव इस देश में इक्के-दुक्के नहीं हैं। क़रीब-क़रीब सभी सम्मेलनों व सभाओं की बैठकों में इसी तरह का अनुभव मिलता है। मुझे राष्ट्र-

भाषा प्रचार के सिलसिले में देश के क़रीब सभी प्रान्तों में भ्रमण करने का मौक़ा मिला है। समय तत्परता के सम्बन्ध में सभी सूबों की कहानी क़रीब एक-सी ही है। मीटिंगों का समय पर शुरू होना हमेशा अपवाद रहा करता है; नियम नहीं, और कहीं अपवाद हो जाता है तो वह नियम को सिद्ध करने ही के लिए। उड़ीसा में तो कई जगह मुक़र्रर किये हुए वक्त से दो घंटे बाद मीटिंग शुरू करने का रिवाज़ ही पड़ गया है। वक्त ज़ाहिर करते हुए मीटिंग के बुलाने वाले व मीटिंग में आने वाले सभी सज्जन यही मानकर चलते हैं कि अगर चार बजे का समय दिया गया है तो मीटिंग छ: बजे शुरू होगी। उसके बाद भले ही हो पर छ: के पहले नहीं।

इस तरह की गैरपाबन्दी की मुख्य ज़िम्मेवारी मैं संयोजकों पर ही मानता हूँ। वे जब कई बार मीटिंग के निश्चित समय के घंटे दो घंटे बाद ही सभा शुरू करते हैं, तो बेचारी जनता वहाँ ठीक समय पर आकर बैठी-बैठी क्या करे? अगर लोगों को मालूम हो जाय कि अमुक सभायें ठीक समय पर शुरू ही हो जाया करती हैं तो जिन्हें शामिल होना होगा वे वक्त पर ज़रूर आयेंगे। हां कुछ लोग तो देरी करेंगे ही; पर उनके लिए दूसरे सभी लोगों को दंड देने की कोई वजह नहीं है। और संयोजकों को समय भी ऐसा निश्चित करना चाहिये जो जनता के लिये सुविधाजनक हो।

पर आप यह न समझ बैठें कि यह हाल हमारे देश का ही है। इंगलेंड व यूरोप के दूसरे देशों में भी समय की बरबादी दिल खोलकर की जाती है। वहाँ की सभाएं वक्त पर होती हैं

और लोग समय के पाबन्द भी हैं। लेकिन अगर सिनेमा व थियेटर के टिकट लेने के लिए लम्बी-लम्बी क़तारों का दृश्य आप देखें तो हैरान होंगे कि जो लोग इतने व्यस्त दीखते हैं और सड़कों पर भी दौड़-दौड़कर चलते हैं, वे इन कतारों में दो-दो तीन-तीन घंटे लगातार किस तरह खड़े रहते हैं और केवल यही राह देखते रहते हैं कि कब टिकट-घर की खिड़की खुले। और इन क़तारों में जवान-बूढे, स्त्री-पुरुष सभी रहते हैं। कभी-कभी तीन घंटे खड़े रहने के बाद भी थियेटर में जगह न रहने के कारण कुछ लोगों को वापिस जाना पड़ता है। बड़ी-बड़ी टेनिस या फ़ुटबाल की मैच देखने के लिए टिकट-घरों के सामने इसी तरह की लम्बी कतारें घंटों खड़ी रहती हैं। फिर ये ही लोग बड़ी शान से लिखते होंगे—"मुझे बड़ा अफसोस है कि समय न मिलने के कारण आपके पत्र का जवाब जल्दी न दे सका।"

और लतीफ़ा तो यह है कि ये ही लोग शोर मचाते हैं कि उनके काम करने के घंटे घटाना चाहिए। वे चाहते हैं कि आफ़िसों व मिलों में उनसे कम समय तक ही काम लिया जाय। वे अधिक अवकाश और फुरसत चाहते हैं। आजकल की समाज-व्यवस्था में जबकि मजदूरों के पसीने का फ़ायदा इने-गिने पूँजीपतियों की जेब में जाता है, मजदूरों के साथ हमारी पूरी हमदर्दी होना स्वाभाविक है। पर सवाल तो यह है कि अधिक अवकाश लेकर ये लोग आखिर करेंगे क्या? विद्वानों का कहना है कि फिर लोगों को कला व विज्ञान के लिए ज्यादा फुरसत मिलेगी। पर क्या सभी लोग कलाकार

और वैज्ञानिक बन जाएँगे ? जो भी हो, ज्यादा मुमकिन तो यही है कि लोग टिकटघरों के सामने, अगर आज हफ्ते में कुछ दिन ही खड़े होते हैं तो फिर रोज ही घंटों खड़े-खड़े मक्खी मारा करेंगे। देर तक पड़े सोया करेंगे और रात को देर तक नाच-घरों में बैठे-बैठे शराब चढ़ाया करेंगे।

आप नाराज न हों ! मुमकिन है आप अपने समय का बहुत अच्छा उपयोग करते हों और किसी विशेष शास्त्र का अध्ययन भी करते हों। लेकिन मैं आपको आम लोगों का एक प्रतिनिधि ही मानकर चला था न।

अगर आप अपने समय का पूरा फ़ायदा उठाते हैं और एक मिनट भी बरबाद नहीं करते तो आपको मुबारकबाद ! अगर नहीं तो क्या आप अपने जीवन पर गहरी और तीखी नज़र डालकर देखेंगे कि आप कितना वक्त ज़ाया करते हैं और उसका क्या सदुपयोग किया जा सकता है ? अगर सिर्फ सुबह ही जल्दी उठना शुरू कर दें तो आप काफी समय बचा लेंगे और दिन-भर आप स्फूर्ति भी महसूस करेंगे।

पर मेहरबानी करके आप कहीं मशीन की तरह भी न बन जाएँ। घड़ी के ठोकों के साथ अपनी जिन्दगी की ताल न बैठालें। अगर अपने प्रोग्राम में आपने जरा भी लचक न रखी और उसमें भिन्नता की गुँजाइश न रही तो भी आप अपना और अपने घर वालों का जीवन सुखी न बना सकेंगे। फिर तो शायद आपका मिज़ाज भी चिड़चिड़ा हो जाएगा और आप दूसरों पर, जो अपना समय ज़रा भी बर्बाद करते हैं, नाराज़ भी होना शुरू कर देंगे।

बस, खुशमिज़ाज रहकर और दूसरों को भी निभाकर आप अपने वक्त का जितना अच्छा उपयोग कर सकें उतनी ही आपकी तारीफ है।

हां, और कृपया आज से किसी से यह न कहें कि "मुझे समय नहीं मिला।"

११ भारत एक है

अक्सर कहा जाता है कि भारतवर्ष की एकता उसकी विविधताओं में छिपी हुई है। और यह बात जरा भी गलत नहीं है क्योंकि अपने देश की एकता जितनी प्रकट है, उसकी विविधताएँ भी उतनी ही प्रत्यक्ष हैं।

भारतवर्ष के नक्शे को ध्यान से देखने पर यह साफ दिखाई पड़ता है कि इस देश के तीन भाग प्राकृतिक दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट हैं। सबसे पहले तो भारत का उत्तरी भाग है जो लगभग हिमालय के दक्षिण से लेकर विन्ध्याचल के उत्तर तक फैला हुआ है। उसके बाद, विन्ध्य से लेकर कृष्णा नदी से उत्तर तक का वह भाग है, जिसे हम दक्खिनी प्लेटो कहते हैं। इस प्लेटो के दक्षिण, कृष्णा नदी से लेकर, कुमारी अन्तरीप तक का जो भाग है, वह प्रायद्वीप जैसा है। अचरज की बात है कि प्रकृति ने भारत के जो ये तीन खंड किए हैं, वे ही खंड भारतवर्ष के इतिहास के भी तीन क्रीड़ास्थल रहे हैं। पुराने समय में उत्तर भारत में जो राज्य कायम किये गए, उनमें से

अधिकांश विंध्य की उत्तरी सीमा तक ही फैलकर रह गए। विंध्य को लांघकर उत्तर भारत को दक्षिण भारत से मिलाने की कोशिश तो बहुत की गई, मगर इस काम में कामयाबी किसी-किसी को ही मिली। कहते हैं पहले-पहल अगस्त्य ऋषि ने विंध्याचल को पार करके दक्षिण के लोगों को अपना संदेश सुनाया था। फिर भगवान् श्री रामचन्द्र ने लंका पर चढ़ाई करने के सिलसिले में विंध्याचल को पार किया। महाभारत के जमाने में उत्तरी और दक्षिणी भारत के अंश एक राज्य के अधीन थे या नहीं, इसका कोई पक्का सबूत नहीं मिलता। लेकिन, रामचन्द्र जी ने उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच जो एकता स्थापित की, वह महाभारत-काल में भी कायम थी और दोनों भागों के लोग आपस में मिलते-जुलते रहते थे। महाराजा युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में दक्षिण के राजे भी आये थे और कुरुक्षेत्र के मैदान में जो महायुद्ध हुआ था, उसमें भी दक्षिण के वीरों ने हिस्सा लिया था, इसका प्रमाण महाभारत में ही मौजूद है। इसी तरह चन्द्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य और उनके बाद मुगलों ने भी इस बात के लिए बड़ी कोशिश की कि किसी तरह सारा देश एक शासन के अधीन लाया जा सके, और उन्हें इस कार्य में सफलता भी मिली। लेकिन भारत के इतिहास की एक शिक्षा यह भी है कि इस देश को एक रखने के काम में यहाँ के राजाओं को जो भी सफलता मिली, वह ज्यादा टिकाऊ नहीं हो सकी। इस देश के प्राकृतिक ढाँचे में ही कोई ऐसी बात थी, जो सारे देश को एक रहने देने के खिलाफ पड़ती थी। यही कारण था कि जब भी कोई बलवान्

और दूरदर्शी राजा इस काम में लगा, सफलता थोड़ी-बहुत उसे जरूर मिली, लेकिन स्वार्थी, अदूरदर्शी और कमजोर राजाओं के आते ही देश की एकता टूट गई। और जो कठिनाई विन्ध्य के उत्तर को विन्ध्य के दक्षिण से मिलाने में हुई, वही कठिनाई कृष्णा नदी से उत्तर के भाग को उसके दक्षिण के भाग से मिलाकर एक रखने में होती रही।

इस देश में वैर-फूट का यह भाव इतना प्रबल क्यों रहा, इसके भी कारण हैं। बड़ी-बड़ी नदियों और बड़े-बड़े पहाड़ों के गुण अनेक हैं, लेकिन उनमें एक अवगुण भी होता है कि वे जहां रहते हैं वहाँ देश के भीतर अलग-अलग क्षेत्र बना देते हैं और इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के भीतर एक तरह की प्रांतीयता या क्षेत्रीय जोश पैदा हो जाता है। यह देश है भी बहुत विशाल। इसके उत्तरी छोर पर काश्मीर पड़ता है जिसकी जलवायु लगभग मध्य एशिया की जलवायु के समान है। इसके विपरीत भारत के दक्षिणी छोर पर कुमारी अन्तरीप है जहाँ के घरों की रचना और लोगों के रंग-रूप आदि में श्रीलंका या सीलोन का नमूना शुरू हो जाता है। चेरापूँजी भी इसी देश में है जहां साल में ५०० इंच से अधिक वर्षा होती है, और थार की मरुभूमि भी यहीं है जहाँ वर्षा होती ही नहीं, अथवा नाममात्र को होती है।

जलवायु एवं क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार ही लोगों के पहनावे-ओढ़ावे और खान-पान में भी भेद हो जाता है, जो भेद भारत में बहुत ही प्रत्यक्ष है। असल में इन भेदों को मिटाकर अगर हम कोई एक राष्ट्रीय ढंग चलाना चाहें तो उससे

अनेक लोगों को बहुत ज्यादा तकलीफ हो जायेगी। उदाहरण के लिए अगर हम रोटी और उड़द की दाल अथवा रोटी और मांस को देश का राष्ट्रीय भोजन बना दें, तो पंजाबी लोग तो मजे में रहेंगे, लेकिन बिहार और बंगाल के लोगों का हाल बुरा हो जायेगा। इसी तरह, अगर हम यह कानून बना दें कि हर हिन्दुस्तानी को चप्पल पहनना ही होगा तो काश्मीर के लोग घबरा उठेंगे, क्योंकि पहाड़ पर चलने वालों के पाँवों में चप्पल ठीक-ठीक नहीं चल सकते। पहनावे-ओढ़ावे में भी जगह-जगह भिन्नता मिलती है और पोशाकें भी जलवायु एवं क्षेत्रीय सुविधा के अनुसार ही यहां तरह-तरह की फैली हुई हैं।

मगर, विविधता का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि हमारे देश में अनेक प्रकार की भाषाएँ फैली हुई हैं और इनके कारण हम आपस में भी अजनबी के समान हो जाते हैं। उत्तर भारत में तो गुजरात से लेकर बंगाल तक की जनता के बीच संपर्क खूब हुआ है, इसलिए वहाँ भाषा-भेद की कठिनाई उतनी नहीं अखरती। लेकिन, अगर कोई उत्तर-भारतवासी दक्षिण चला जाय अथवा कोई दक्षिण-भारतीय उत्तर चला आए और वह अपनी मातृभाषा के सिवा अन्य कोई भाषा नहीं जनता हो तो वह, सचमुच बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगा। भाषा-भेद की वह समस्या हमारी राष्ट्रीय एकता की सब से बड़ी बाधा है। राष्ट्रीय एकता में पहले यह बाधा थी कि पहाड़ों और नदियों को लांघना आसान नहीं था। मगर, अब विज्ञान के अनेक सुगम साधनों के उपलब्ध

हो जाने से वह बाधा दूर हो गई है। आज अगर देश के एक कोने में अकाल पड़ता है तो दूसरे कोने से अनाज यहाँ तुरन्त पहुंचा दिया जाता है। इसी प्रकार, पहले जब देश के एक कोने में विद्रोह होता था, तब दूसरे कोने में पड़ा हुआ राजा जल्दी से फौज भेजकर उसे दबा नहीं सकता था और विद्रोह की सफलता से देश की एकता टूट जाती थी। लेकिन आज तो देश के चाहे जिस कोने में भी विद्रोह हो हम दिल्ली से फौज भेजकर उसे तुरन्त दबा सकते हैं। प्राकृतिक बाधाएँ अब खत्म हो गई हैं। यही कारण है कि आज हमारी एकता इतनी विशाल हो गई है जितनी विशाल वह रामायण, महाभारत, मौर्य और मुगल जमानों में कभी नहीं हुई थी। अब भी जो क्षेत्रीय जोश या प्रांतीय मोह बाकी है, वह धीरे-धीरे कम हो जायगा, क्योंकि इस जोश को पालने वाली प्राकृतिक बाधाएँ अब शेष नहीं हैं। मगर, भाषा-भेद की समस्या जरा कठिन है और उसका हल तभी निकलेगा जब हिन्दी-भाषी क्षेत्र में अहिन्दी भाषाओं तथा अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में हिन्दी भाषा का अच्छा प्रचार हो जाए। सौभाग्य की बात है कि इस दिशा में काम शुरू हो गए हैं और कुछ समय बीतते-बीतते हम इस बाधा पर भी विजय प्राप्त कर लेंगे।

यह तो हुई भारत की विविधता की कहानी। अब जरा यह देखने की कोशिश करनी चाहिये कि इस विविधता के भीतर हमारी एकता कहाँ छिपी हुई है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि यद्यपि हम अनेक भाषाएँ बोलते हैं जिनमें १४ भाषाएँ तो ऐसी हैं, जिन्हें भारत सरकार ने स्वीकृति दे रखी

है। ये भाषाएँ हैं—हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू, मलायलम, कन्नडी, उड़िया, आसामी, पंजाबी काश्मीरी और संस्कृत। किन्तु, भिन्न-भिन्न भाषाओं के भीतर बहने वाली हमारी भावधारा एक है, तथा हम, प्रायः, एक ही तरह के विचारों और कथा-वस्तुओं को लेकर अपनी-अपनी बोली में साहित्य-रचना करते हैं। रामायण और महाभारत को लेकर भारत की प्रायः सभी भाषाओं के बीच अद्भुत एकता मिलेगी; इसके सिवा, संस्कृत और प्राकृत में भारत का जो साहित्य लिखा गया था, उसका प्रभाव भी सभी भाषाओं की जड़ में काम कर रहा है। विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता होती है। अतएव, भारतीय जनता की एकता के असली आधार भारतीय दर्शन और साहित्य हैं जो अनेक भाषाओं में लिखे जाने पर भी, अन्त में जाकर एक ही साबित होते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि फारसी लिपि को छोड़ दें तो भारत की अन्य सभी लिपियों की वर्णमाला एक ही है, यद्यपि, वह अलग-अलग लिपियों में लिखी जाती है। जैसे हम हिन्दी में क, ख, ग आदि अक्षर पढ़ते हैं, वैसे ही, ये अक्षर भारत की अन्य लिपियों में भी पढ़े जाते हैं, यद्यपि उनके लिखने का ढंग और है।

हमारी एकता का दूसरा प्रमाण यह है कि उत्तर या दक्षिण, चाहे जहां भी चले जायें, आपको जगह-जगह पर एक ही संस्कृति के मन्दिर दिखायी देंगे, एक ही तरह के आदमियों से मुलाकात होगी जो चन्दन लगाते हैं, स्नान-पूजा करते हैं, तीर्थ-व्रत में विश्वास करते हैं अथवा जो नयी रोशनी को

अपना लेने के कारण इन बातों को शंका की दृष्टि से देखते हैं। उत्तर भारत के लोगों का जो स्वभाव है, जीवन को देखने की जो उनकी दृष्टि है, वही स्वभाव और वही दृष्टि दक्षिण वालों की भी है। भाषा की दीवार के टूटते ही, उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय के बीच कोई भी भेद नहीं रह जाता और वे आपस में एक-दूसरे के बहुत करीब आ जाते हैं। असल में, भाषा की दीवार के आर-पार बैठे हुए भी वे एक ही हैं। वे एक धर्म के अनुयायी और संस्कृति की एक ही विरासत के भागीदार हैं; उन्होंने देश की आज़ादी के लिए एक होकर लड़ाई लड़ी और आज उनकी पार्लमेंट और शासन-विधान भी एक है।

और जो बात हिन्दुओं के बारे में कही जा रही है, वही बहुत दूर तक मुसलमानों के बारे में भी कही जा सकती है। देश के सभी कोनों में बसने वाले मुसलमानों के भीतर जहाँ एक धर्म को लेकर एक तरह की आपसी एकता है, वहाँ वे संस्कृति की दृष्टि से हिन्दुओं के भी बहुत करीब हैं, क्योंकि ज्यादा मुसलमान तो ऐसे ही हैं जिनके पूर्वज हिन्दू थे और जो इस्लाम धर्म में जाने के समय अपनी हिन्दू आदतें अपने साथ ले गये हैं। इसके सिवा, अनेक सदियों तक हिन्दू-मुसलमान साथ रहते आये हैं। और इस लम्बी संगति के फलस्वरूप उनके बीच संस्कृति और तहज़ीब की बहुत-सी समान बातें पैदा हो गयी हैं जो उन्हें दिनों-दिन आपस में नजदीक लाती जा रही हैं।

संसार के हरएक देश पर अगर हम अलग-अलग विचार करें तो हमें पता चलेगा कि प्रत्येक देश की एक निजी

सांस्कृतिक विशेषता होती है जो उस देश के प्रत्येक निवासी की चाल-ढाल, बात-चीत, रहन-सहन, खान-पान, तौर-तरीके और आदतों से टपकती रहती है। चीन से आने वाला आदमी विलायत से आने वालों के बीच नहीं छिप सकता, और, यद्यपि अफ्रीका के लोग भी काले ही होते हैं, मगर, वे भारतवासियों के बीच नहीं खप सकते। भारतवर्ष में भी यूरोपीय पोशाकें खूब चली हुई हैं; लेकिन, यूरोपीय लिबास में सजे हुए हिन्दुस्तानियों के बीच एक अंग्रेज़ को खड़ा कर दिया जाय, तो वह आसानी से अलग पहचान लिया जायगा। इसी तरह, भारत के हिन्दू ही नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी, क्रिस्तान, पारसी और मुसलमान भी भारत से बाहर जाने पर आसानी से पहचान लिए जाते हैं कि वे हिन्दुस्तानी हैं। और यह बात कुछ आज पैदा नहीं हुई है, बल्कि इतिहास के किसी भी काल में भारतवासी भारतवासी ही थे तथा अन्य देशों के लोगों के बीच में वे खप नहीं सकते थे। यही वह सांस्कृतिक एकता या शक्ति है जो भारत को एक रखे हुए है। यही वह विशेषता है जो उन लोगों में पैदा होती है जो एक देश में रहते हैं, एक तरह की ज़िन्दगी बसर करते हैं और एक तरह के दर्शन और एक तरह की आदतों का विकास करके एक राष्ट्र के सदस्य हो जाते हैं।

१२

सर्वोदय से क्या समझें ?

आप जानते हैं कि आजकल में सर्वोदय-समाज की कल्पना का प्रचार करता हुआ हिन्दुस्तान में घूम रहा हूं। जिस काम के लिए यहां आया हूं, वह भी सर्वोदय का ही एक हिस्सा है। इसलिए सर्वोदय की कल्पना आपको थोड़े में समझा दूंगा।

लोग पूछते हैं कि आपने यह नया शब्द क्यों निकाला ? लेकिन दरअसल यह नया शब्द नहीं है। गांधीजी ने कई साल पहले इसका उपयोग किया है। लेकिन इस समय नये सिरे से इसका व्यापक प्रचार किया जा रहा है। लोगों में भी यह शब्द चल पड़ा है। लेकिन सर्वोदय के अर्थ की ठीक कल्पना बहुत लोगों को अभी तक नहीं आई है। और जहां अर्थ ही ठीक तरह से मालूम न हो, वहां उसके अमल का विचार दूर की चीज है।

सर्वोदय शब्द अगर इस समय न आया होता तो स्वराज्य-प्राप्ति के बाद तो हम ध्येयविहीन बन जाते या गलत ध्येय में फँस जाते। हमारा ध्येय क्या होना चाहिए, इसका ठीक दर्शन

'सर्वोदय' शब्द कराता है। आज तक 'स्वराज्य' शब्द से प्रेरणा मिलती रही। दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी आदि लोगों ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए तपस्या की। काँग्रेस ने और दूसरे लोगों ने ७०-८० साल इसके लिए मेहनत की। और अब एक तरह का स्वराज्य हमें प्राप्त हुआ है। स्वराज्य-प्राप्ति के पहले यह शब्द हमें प्रेरणा दे रहा था। लेकिन अब हमें कोई ऐसा दूसरा शब्द चाहिये जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हमको प्रेरणा देगा। सर्वोदय ऐसा शब्द है। स्वराज्य का काम भी सर्वोदय के अंतर्गत ही था क्योंकि जब तक यह देश दूसरे के पंजे में गुलाम पड़ा था तब तक सबका उदय होना असंभव था। इसलिए पहले देश को आजाद करने की ही जरूरत थी। वह सर्वोदय की पहली सीढ़ी थी। इसके आगे सबका उदय हो, इस ध्येय को सामने रखकर हमारे शिक्षण में, सभ्यता में और नित्य के व्यवहार में हमें ख्याल रखना चाहिए।

सर्वोदय की कल्पना हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलती है। ऋषि गाता है—"सर्वे नः सुखिनः संतु।" उसने "सब" शब्द में केवल मानव-समाज का ही समावेश नहीं किया है, बल्कि उन जानवरों का भी समावेश कर दिया है, जिनको मनुष्य ने अपने कुटुम्ब का एक हिस्सा मान लिया था। सब प्राणियों को तो हम अपने कुटुम्ब में स्थान नहीं दे सकते थे। जिनका उपयोग हम कर सकते हैं, उनकी ही रक्षा की चिन्ता हम कर सकते हैं। बाकी सब प्राणियों की रक्षा करने के लिए तो भगवान् बैठा है। मनुष्य गाय-बैलों का उपयोग करता है,

इसलिए उनको उसने अपने कुटुम्ब में स्थान दिया। ऋषि कहता है—"शं नो अस्तु द्विपादोः शं नो अस्तु चतुष्पादोः" दो पाँव वालों का और चार पाँववालों का (मनुष्य का और गाय का) भला हो।

एक जमाना था जब गायों की अच्छी रक्षा होती थी। दिलीप जैसा राजा गाय की सेवा में किस तरह निष्ठापूर्वक तन्मय हो गया था, उसका सुन्दर वर्णन महाकवि कालिदास ने रघुवंश में करके गो-सेवा का एक अद्भुत आदर्श पेश किया है। ऐसा ही चरित्र भगवान् कृष्ण का है। इसलिए हिन्दुस्तान में गोपाल कृष्ण का नाम रूढ़ हुआ। लेकिन यह बात आगे नहीं रही और हम गायों की उपेक्षा करने लगे। प्राणियों की बात छोड़ दो, मानव-मानव के साथ भी हम कठोरता से व्यवहार करने लगे और इसी कारण यह देश बरसों से परतन्त्र रहा।

अब स्वराज्य आया है तो सर्वोदय का ध्येय हमको सिद्ध करना है। पहले तो हमको मानवों के साथ प्रेम से व्यवहार करना सीखना है। जहां एक मानव दूसरे मानव पर आक्रमण नहीं करता है, जहां सब की फिक्र की जाती है, जहां उच्च-नीच-भाव नहीं है, ऐसा देश दुनिया में शायद ही कोई होगा।

हमारे धर्म में चातुर्वर्ण्य के नाम पर उच्च-नीच-भाव पैदा हो गया। मूल चातुर्वर्ण्य एक अहंकारी संस्था के तौर पर बना था—शुरू में केवल एक ही वर्ण था, ऐसा वर्णन उपनिषदों में आता है। उस वर्ण से सारे काम पूरे नहीं हो सके तो उसकी मदद के लिए क्षत्रिय वर्ण और बाद में वैश्य

वर्ण बनाया गया। उससे भी काम पूरा नहीं हो सका तो शूद्र वर्ण—यानी सबका पोषण करने वाला वर्ण—निर्माण हुआ, ऐसा वर्णन आता है। मतलब, ये सारे वर्ण परस्पर पूरक हैं और हरेक वर्ण की योग्यता दूसरे सब वर्णों के बराबर है, बशर्ते कि हरेक अपना काम निष्ठापूर्वक करे, और जो अपनी सेवा भगवान् को अर्पण करता है, वह चाहे किसी भी वर्ण का क्यों न हो, मोक्ष का अधिकारी बनता है, गीता में बताया है। एक मामूली झाड़ू लगाने वाला और एक महान् ज्ञानी दोनों अगर अपना काम दक्षता से और ईश्वर समर्पण-बुद्धि से करते हैं तो दोनों की योग्यता समान है, और दोनों मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। लेकिन यह तो मूल शास्त्रकार की कल्पना हुई। आगे उसमें दोष उत्पन्न हुए और उच्च-नीच-भाव दाखिल हुआ। सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण, उससे नीच क्षत्रिय इत्यादि सब सीढ़ियां बन गईं, तब हिन्दू धर्म का ह्रास हुआ।

इस हालत में दूसरे धर्मों के लोग यहां आए तो उनके धर्म का प्रचार यहां शीघ्रता से हुआ। क्योंकि इस तरह का ऊँच-नीच-भाव उनके धर्मों में नहीं था। सबके साथ उन्होंने समानता से व्यवहार किया और यहाँ के लोगों का प्रेम सम्पादन किया। मुसलमानों ने या क्रिस्ती लोगों ने अपने धर्म का प्रचार यहाँ केवल सत्ता के बल पर किया, यह पूर्ण सत्य नहीं है। क्रिस्ती लोग एक हज़ार साल पहले दक्षिण भारत में आए थे। उनकी सत्ता तो अभी तीन सौ साल पहले यहाँ कायम हुई थी। इस्लाम का प्रचार मुसलमान राजाओं ने नहीं, बल्कि फकीरों ने किया था। फकीरों का असर उस

समय हिन्दुस्तान की जनता पर कितना था, इसकी कल्पना शिवाजी के उस कथन से मिलती है जिसमें उसने कहा कि "हिन्दूधर्म की रक्षा के लिए मैंने फ़कीरी ली है।" इतना आदर फकीरों के लिए था। उन्होंने यहाँ समानता का प्रचार किया। हिन्दूधर्म में फैली हुई विषमता के विरोध में इस्लाम की यह समानता लोगों को आकर्षक मालूम हुई, इसलिये निचली जातियों के लोगों ने इस नये धर्म को स्वीकार किया। ऐसा सब इतिहास है।

यह इतिहास अगर हम ठीक ध्यान में लेंगे तो उसमें से ही सुधार की दिशा मिल सकती है। हम जब सर्वोदय का विचार करते हैं तो ऊँच-नीच-भाववाली यह वर्ण-व्यवस्था दीवार की तरह सामने खड़ी होती है। उसको तोड़ना होगा, तभी सर्वोदय स्थापित होगा। जिस समाज को ऋषियों ने सबका भला हो, इस भावना से आरम्भ किया उस समाज में आज मानव-मानव के बीच का विषम भाव यहां तक पहुँच गया है कि कुछ मानवों के स्पर्श में भी पाप माना जाता है। इन सारे भेदों को मिटाना होगा।

इस प्रकार जैसे सामाजिक क्षेत्र में काम करना होगा, वैसे आर्थिक क्षेत्र में भी करना होगा। यन्त्रों के कारण आर्थिक विषमता और भी बढ़ी है। कुछ लोगों के हाथ में अधिक सम्पत्ति जमा होती है तो कुछ लोगों को काम ही नहीं मिलता है। मिल का कपड़ा सस्ता पड़ता है, ऐसा लोग मानते हैं। लेकिन मिलों के कारण जो लोग बेकार हो जाते हैं, उनको समाज को खिलाना तो पड़ता ही है। उसका खर्च मिलों पर

चढ़ाकर हिसाब कीजिए तो मालूम होगा कि मिल का कपड़ा खादी से कई गुना महँगा पड़ता है। यन्त्रों के कारण यूरोप-अमेरिका जैसे देशों में भी वह हालत हो गई है और आर्थिक विषमता बढ़ी है। सर्वोदय का ध्येय सामने रखकर काम करेंगे तो ही यह समस्या मिट सकती है।

सर्वोदय को सफल बनाने के लिए हिन्दू-मुसलमान आदि जाति-भेदों को भी मिटाना होगा। ये अलग-अलग धर्म उपासना के अलग-अलग प्रकार हैं, ऐसा समझना चाहिए। भगवान् अनन्तगुणी है। इसलिए उसकी उपासना के भी अनन्त प्रकार हो सकते हैं। उसके कारण हमारे मन में द्वेष की भावना नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से हमारी विधान-सभा ने अभी जो निर्णय किया है, वह बहुत महत्व का है। इसके आगे धर्म के आधार पर कानून में कोई भेद नहीं किया जायगा, ऐसा उस निर्णय का अर्थ है। मेवों को बसाने का जो काम सरकार कर रही है, वह इस निर्णय को मजबूत बनाने वाला है। बीच में जो गड़बड़ हुई, उस समय ये लोग हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों में भाग गये थे। अब तक बेघरबार पड़े थे। उनको अपने-अपने घरों में बसाकर सरकार एक अन्याय को दूर कर रही है। इस तरह से सामाजिक भेद-भाव मिटाना और आर्थिक विषमता दूर करना, दोनों मिलकर सर्वोदय बनता है।

इसमें और एक तीसरी कल्पना है। सर्वोदय की दृष्टि से जो समाज-रचना करनी है, उसका आरम्भ अपने निजी जीवन के परिवर्तन से करना है। हम व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में असत्य और हिंसा का उपयोग नहीं करेंगे, ऐसी

प्रतिज्ञा करनी होगी । समाज में जो विषमता है, उसको हम अहिंसा से ही मिटाना चाहते हैं । समानता तो कम्युनिस्ट भी चाहते हैं, लेकिन समानता का उनका ख्याल हमारी कल्पना से भिन्न है । हरएक गाँव और हरएक व्यक्ति स्वावलम्बी होना चाहिए, यह उनकी कल्पना में नहीं है । अच्छे साध्य के लिए चाहे जो साधन इस्तेमाल कर सकते हैं ऐसा वे मानते हैं । हिन्दुस्तान में अगर यह बात चली तो सर्वोदय तो दूर रहा, हमारा स्वराज्य भी खतरे में आ जायगा । उद्देश्य किसी का कुछ भी हो, बुरे और हिंसक साधनों का उपयोग हम करेंगे ही नहीं, यह मर्यादा अगर न रही तो हिन्दुस्तान खत्म हो जायगा । चीन और ब्रह्मदेश की मिसाल हमारे सामने है ।

इसलिए मैं कहता हूँ कि सर्वोदय की कल्पना से जवानों में उत्साह का संचार होना चाहिए । सारी दुनिया में सर्वोदय को फैलाने का काम इसके आगे करना है । लेकिन जो निज का उद्धार करता है, वही दुनिया के उद्धार का रास्ता खोल देता है । इसलिए सर्वोदय की कल्पना का ठीक अध्ययन करके उसका अपने जीवन में अमल शुरू कर देना चाहिए ।

१३ धरती

देश की आशा उसकी धरती है। भारत खेतिहरों का देश है। किसान धरती के बेटे हैं। यहां किसान जिएगा तो सब कुछ है। किसान बिलट गया तो सब कुछ बंटाढार समझिए। एक पुराने संस्कृत श्लोक में पते की बात कही है :

राज्ञः सत्त्वे असत्त्वे वा विशेषो नोपलक्ष्यते ।
कृषीवल विनाशे तु जायते जगतो विपत् ।।

राजा एक रहे या दूसरा आ जाए, कुछ विशेष भेद नहीं पड़ता, लेकिन अगर किसान का नाश हुआ तो जग-प्रलय समझनी चाहिए। किसान के जीवन को बनाने में भारत का सर्वोदय है। भारत का किसान देख-भाल कर चलने वाला है। वह सदियों से अपना काम चतुराई के साथ करता आ रहा है। उसमें हड्डी पेलने का भी गुण है। खेत में जब उतरता है, खून-पसीना एक कर देता है। सर्दी-गर्मी से वह जी नहीं चुराता। असौज की धूप में भी सिर पर चादर रखकर वह खेत में डटा रहता है। वह स्वभाव से मितव्ययी है। उसे

बुद्धू या पुरानपन्थी कहना अपनी आँखों का अन्धापन है। भारतीय किसान को उसकी भाषा में जब कोई अच्छी बात बताई जाती है, वह उसे चाव से सीखता है और अपनाने की कोशिश करता है, लेकिन अगर भारी-भरकम, अधकचरा ज्ञान उसके द्वारे उँडेल दिया जाए और वह भी विदेशी भाषा में तो यदि किसान उसे न समझ पावे तो किसान का क्या दोष है ? भारतीय किसान के शरीर और मन में धरती-माता क्षमा और दृढ़ता बनकर बैठी है। संतोष और परिश्रम में भारतीय किसान संसार में सबसे ऊपर है। उसके सद्गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। किसान को दोषी ठहराना सस्ता विज्ञापन है और वैसा करना अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारना है। किसान के साथ झूठी हमदर्दी या दया-मया दिखाते हैं उन मित्रों से भी किसान को भगवान् बचावे। फूंस और छप्पर के कच्चे घरों में रहना कोई त्रुटि नहीं है। किसान ने चतुराई से जान-बूझकर इस तरह के घर चुने। उसके घर की देवी ने पहले से ही तिनकों का वस्त्र पहना, वही उसे भाया। किसान अपने घर को बांस और बल्लियों के ठाठ से, अपने ही जंगल के घास और फूंस से और अपने ताल की मिट्टी से पाथी हुई कच्ची ईंटों से बनाता है। इसमें एक बड़ा लाभ है, वह यह कि किसान शहर का या बाहरी जगत् का मुँह नहीं ताकता, वह अपने ही क्षेत्र में स्वावलम्बी बन जाता है। आत्मनिर्भरता भारतीय किसान के जीवन की कुंजी है। उसके खेती के औजार, हल, हेंगा, पंजाली, बरत, पुराही, कुदाल, हँसिया, सब उसके यहां ही तैयार होते हैं। गाँव की

जानी-पहचानी कारीगरी किसान को आत्मनिर्भर बनाती है। भारतीय खेती की पुरानी पद्धति में सैकड़ों तरह का शिल्प किसान के हाथों में रहता है। पचासों तरह की रस्सी वह अपने हाथों से बनाता है और गठियाता है। अपनी बोझ ढोने की छकड़ा गाड़ी को गाँव के लुहार-बढ़ई की मदद से वह स्वयं कसकर तैयार करता है। ऊख बोने से पेरने और गुड़-खांड बनाने की सारी प्रक्रिया किसान की उंगलियों के पोरवों में बसती है। लाखों रुपया लगाकर जो परिणाम शक्कर-मिल से होता है, वह किसान की खंडसार में गाँव-गाँव और घर-घर देखने को मिलता था। नदी की सिरवाल घास से वह अपनी राब का शीरा अलग करता और भिंडी की सुकलाई और दूध की धार से वह अपने गुड का मैल काटता था। बगले के पंख की तरह सफेद वह खांड बनाता था और जहां यह उद्योग चौपट नहीं हो गया है, वहां आज भी बनाता है। आत्मनिर्भरता भारतीय किसान का बहुत बड़ा गुण है। यदि इसी बात का आँख खोलकर अध्ययन किया जाय तो हजारों बातें ऐसी मिलेंगी जिन्हें गांव का भारतोय किसान अपने हाथ से कर लेता है और जिनके लिए उसे बाहर के यंत्रों और मिस्त्रियों का मुँह नहीं ताकना पड़ता। जिस चीज को वह अपने गाँव में ही तैयार न कर सके और टूट-फूट होने या बिगड़ने पर स्वयं जिसकी मरम्मत न कर सके, ऐसे यन्त्र को किसान ने कभो नहीं पसन्द किया। ऐसा यन्त्र यदि उसके जीवन में हम पहुँचाते हैं तो हम उसके ऊपर एक आर्थिक बोझा लादते हैं, उसे बहुत हद तक दूसरे पर निर्भर बनाकर

उसकी स्वतन्त्रता का लोप करते हैं। बड़े-बड़े आठ लाव के पक्के गोला कुँवे आज भी भारतीय किसान अपने बल-बूते और मस्तिष्क के अनुभव से और गांव के माल-मसाले से तैयार कर लेते हैं। उनके इस कौशल की जी खोलकर प्रशंसा होनी चाहिए। किसी देहात में चले जाइए, ऐसे कुँवों से गाँव-बस्ती और जंगल भरे हुए मिलेंगे। इन्हें देवता नहीं बना गए। किसानों ने ही धरती के सोत फोड़कर इन बड़े इन्दारों या गहरे कुँवों को बनाया था। कुँवे का गोला गालना आज भी गाँवों में बड़ी चतुराई का काम समझा जाता है। किसान के पास न सीमेंट था, न सिरिया या गर्डर थे। इन चीज़ों ने गाँव में पहुँचकर वहां के माल-मसालों की ओर से किसानों का जी फेर दिया। चाहिए तो यह कि अपनी धरती के जिस मसाले से वह अब तक इतनी मज़बूत चीज़ें बनाता रहा था, उसी की तारीफ करके उसे आत्मनिर्भर बनाया जाय। आज तो उलटी गंगा बहने लगी है। तिनकों का वस्त्र पहनने वाली गाँव की देवी लाल ईंट के मोह में फँस रही है। लाल ईंट भयावनी वस्तु है। इसमें गांव का हित नहीं, अनहित है। किसान को अपने लिपे-पुते कच्चे घरों से प्यार था। वे उसे सर्दी में गरम और गर्मी में ठंडे लगते थे। उन्हें वह स्वयं अपने हाथों के बल-बूते पर या पड़ोसियों के साथ मिलकर बना डालता था, उनकी लिपाई, लिहसाई और पुताई में उसकी घर-वाली उसका हाथ बंटाती थी। अपने अन्न, घर और वस्त्र को पैदा करने और बनाने में किसान स्वतन्त्र था, एकदम आत्म-निर्भर। वेद के शब्दों में :

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज

अपने खेत या केन्द्र पर बिल्कुल निर्भय, आधि-व्याधि से दूर, आत्मनिर्भर होकर विराजता था। आज किसान की आत्मनिर्भरता धीरे-धीरे चलती जा रही है। एक-एक करके बाहरी कल-काँटे उसके जीवन पर छापा मार रहे हैं और वह उनके भ्रम-जाल में पड़कर अपनी आर्थिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता खो रहा है। किसान घर का रहेगा न घाट का। यदि लाख दो लाख आदमी इस मोह के शिकार होते तो इस मजाक को सह लिया जाता, लेकिन करोड़ों देहात के मनुष्यों को शहर की खर्चीली चीजों का गुलाम बना डालना ऐसी भूल होगी जिसके बोझ से किसान दब जायगा।

भारतीय किसान के पास हाथ-पैर का बल है, उसके मन में काम करने का उत्साह है, उसमें अपनी धरती और घर-गृहस्थी से प्रेम है। वह राह-राह चलता है, उसमें बुद्धि का गुण भरपूर मात्रा में है। वस्तुतः समझ-बूझ में भारत का किसान बढ़ा-चढ़ा है। उसे किसी तरह बुद्धू नहीं कहा जाता सकता। गाँव से चटककर जब वह शहर में आ जाता है तो शहरी धन्धों को कितनी फुर्ती से सीख लेता है, अथवा जब वह भर्ती होकर लाम पर जाता है तब वहाँ की कवायद, हथियार और मशीन के काम को वह कितनी चालाकी से सीख लेता है। भारतीय किसान भाषा और भाव दोनों का धनी है। उसके गीतों में उसके सुख-दुख की अनुभूति प्रकट होती है। इस अनुभूति के तार भारतीय साहित्य के अभिप्रायों से मिले हैं। उसकी पैनी बुद्धि गाँव की चोखी कहावतों में जगमगाती है।

मेल-जोल किसान के जीवन को बाँधनेवाली पोढ़ी रस्सी है, उसमें मिल-जुलकर जीवन चलाने का अद्भुत गुण है। खेती के गाढ़े समय में जब काम का तोड़ रहता है, विशेषकर जुताई, घुआई का, मँडनी-दवनी के कामों में वे खुले जी से एक-दूसरे का हाथ बँटाते हैं। शादी-ब्याह, जग्य-ज्योनार के समय किस तरह सारा गाँव और पसगाँव भी एक सूत में बँध जाता है यह देखने लायक होता है। टेहले के घरेलू कामों को कितने ही परिवार सुविधा के अनुसार बांटकर भुगता देते हैं। मनों गेहूँ पीसना हो तो कितने ही घर की स्त्रियाँ बाँट ले जाती हैं और गाते-गाते आटा तैयार हो जाता है। सारे गाँव-बिरादरी की चक्कियां एक परिवार की सेवा में लग पड़ती हैं। दाल पीसना हो, कलावे रंगना हो, तीयल सीना हो, इसी प्रकार की पारिवारिक साझेदारी से चटपट काम हो जाता है। सहकारिता की भित्ती पर बनी हुई जीवन-पद्धति गाँव में पहले से चली आती है। उसको यदि बाहरी चोला न पहनाया जाय तो उसी जीवन में से पुनः उसके क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।

भारतीय किसान कथा-वार्ता का प्रेमी रहा है। उसे अपने पूर्वजों के चरितों में रुचि है। आँखें उसकी काले अक्षर नहीं देखतीं, पर कानों के द्वारा और कण्ठ के द्वारा वह अपरिचित ज्ञानराशि की रक्षा करता आया है। लाखों ग्रामगीत, हजारों कहानियाँ, लोकोक्तियाँ और ऋतु एवं प्रकृति की बातें किसानों के कण्ठ में हैं, जहाँ से भाषा का अमित शब्द-भण्डार प्राप्त किया जा सकता है। जाड़ों की चिलकती धूप और गर्मी की प्रशान्त रातों में, बरसात के घोरते-गरजते समय और वसन्त के फगुवा

बयार में किसान का रोम-रोम नृत्य और गीत के लिए फड़कने लगता है। जीवन की नसों की थिरकन भीतरी उल्लास को नृत्य में उंडेल देती है। जीवन की रक्षा करनी है तो लोकनृत्य को मरने से बचाना होगा, लोकसंगीत की लय को फिर से सुनना होगा, जो जंगल को वसन्त के आगमन पर गीत-मंगल से भर देती है। किसान के जीवन को पुनः चिताने के लिए नृत्य-गीत अमृत का काम करेंगे।

किसान को बाहर से आता हुआ सच्ची सहानुभूति का स्वर चाहिए। उसके जीवन के सीधे-सच्चे ढांचे को समझने, परखने और संभालने की आवश्यकता है, अस्त-व्यस्त करने की नहीं। नीचे खींच लेना आसान है, ठाठ खड़ा करना मुश्किल है। आज हलधर मनोवृत्ति बनाने की आवश्यकता है। देश में चारों ओर सब तरह की मनोवृत्ति तैयार हो रही है, लेकिन हल की मुठिया पकड़कर हलधर बनने या कहलाने की मनोवृत्ति का टोटा है। कहते हैं, किसी गाढ़े समय में जनक ने हल की मुठिया थामी थी, तब धरती ने सोना उगला था। आज सोने के घट की देवी, धरती की पुत्री सीता के जन्म की पुनः आवश्यकता है। और सब जगह तो हम जाते हैं, किसानों के खेतों में जाना नहीं सीखा। क्या हमारे अभिनन्दन और उद्घाटन जनपदों की लक्ष्मी के लिए अर्पित न होंगे? आवश्यकता है कि पर्याप्त प्रचार और उत्साह से सारे जनपद के कल्याण का उद्घाटन हम किसी दिन करें और उसी मुहूर्त से पृथ्वी और पृथ्वी के पुत्र किसानों के जीवन के कायाकल्प करने के लिए जनपद के सच्चे सेवक व सरकारी अमला कमर कस लें।

एक-एक जनपद को हम पाँच वर्षों में अन्न और वस्त्र से पाट देंगे, वहाँ की भूमि के सेहा हल कराल होकर गहरी फाड़ करने लगेंगे, वहाँ के तिनकों में जान पड़ जायगी, गाय-भैंसों के सूखते पंजरों पर फिर से मांस के लेवड़े चढ़ने लगेंगे और लुढ़कती हुई टांट वाले सांड खेतों में खड़े मठारने लगेंगे। आज की जैसी मूर्छा-उदासी-असहायता का नाम-निशान न रह जायगा। किसान के लिए चारों ओर आशा का नया संसार होगा। सभी के मन यदि संकल्पवान् होंगे तो गाड़ी अटक नहीं सकती। हमारे भारी-भरकम पोथों का ज्ञान भी छनकर किसान तक पहुँचेगा और उस भूमि के लिए उपयोगी होगा, जिसके धन से वह सींचा गया है। हलधर मनोवृत्ति का फगुनहटा देहातों में बहेगा तो एक ओर से दूसरे छोर तक सभी कुछ नया रस पाकर लहलहाने लगेगा। देहातों को पैसा नहीं चाहिए, किसान का बलिष्ठ शरीर सकुशल बचा रहे, वह धरती के साथ सती होकर उसकी काया पलट देगा।

धरती का कायाकल्प, यह देहात की सबसे बड़ी समस्या है। आज धरती-माता रूठ गई है। किसान धरती में पचता-मरता है, पर धरती में उपज नहीं होती। बीज के दाने तक कहीं-कहीं धरती पचा जाती है। धरती से अन्न की चाहना करते हुए गाँव-गाँव के किसानों ने पड़ती जंगल जोत डाले, बंजर तोड़ते-तोड़ते किसानों के बैल थक गये, पर धरती अवकाबाई[1] की तरह न पसीजी और किसानों की दरिद्रता बढ़ती चली

---

[1] दरिद्रता की मराठी देवी।

गई। 'अधिक अन्न उपजाओ' का सुग्गा पाठ किसान सुनता है। वह समझता है कि अधिक धरती जोत में लानी चाहिए। उसने बाग-बगिया के पेड़ काट डाले, खेतों को बढ़ाया, पर धरती ने अधिक अन्न नहीं उपजाया। अधिक धरती के लिए अधिक पानी चाहिए, अधिक खाद चाहिए। वह पहले से ही नहीं था। किसान की उलझन बढ़ गई, धरती की भूख-प्यास बढ़ गई। धरती रूठी है। अब उसे मनाना होगा। वह रीती है, उसे भरना होगा, तभी उसकी मिट्टी में से गेहूँ के मक्खन-फूल की इतराती हुई बालें निकलेंगी; तभी कनकजीरी धान के कण्ठों से निगरती हुई बालें अपने झंग-झूलन से खेतों को भर देंगी, और तभी मोटे अन्नों की कनूकेदार भुटियों के दर्शन होंगे। धरती की भी अपनी कथा और व्यथा है, उसे सुनने और समझने वाले चाहिएं। धरती से हम लेते रहे, उसे दिया कुछ नहीं। अन्न के रूप में उसका सार सींचते रहे, पर खाद से उसे पोसा नहीं। धरती को हम रीती करते रहे, फिर भरा नहीं। धरती केवल मिट्टी नहीं है। उसमें कीमिया भरी है। वही रसायन मिट्टी में से गेहूँ-गन्ने का अमृत उपजाता है। गेहूँ को जैसी मिट्टी चाहिए, जौ को उससे दूसरी तरह की। आलू को मानने वाली पहाड़ी मिट्टी तेजाबी होती है, जौ को मानने वाली मैदानों की मिट्टी रेहाली या खारी। धरती में खारापन बढ़ जाय तब भी पौधे-पत्ती सूख जाती हैं, तेजाब का अंश बढ़े तो भी ठीक नहीं। धरती की नब्ज पहचानना जरूरी है। धरती का यह स्वास्थ्य या संतुलन खाद-पानी पर निर्भर है। धरती के विशेषज्ञ कान लगाकर उसकी

बात सुनते हैं, आत्मविश्वास के साथ उसकी कमी को पूरा करते हैं और मनचीता अन्न उत्पन्न करते हैं। हमारा किसानों का देश है, खेती हमारा राष्ट्रीय पेशा है। खेतिहर होना हमारे लिये सबसे गर्व की बात है। हम अच्छे खेतिहर बन सकें, इससे बढ़कर हमारे कल्याण की कोई बात नहीं है। हमारी पढ़ाई-लिखाई का आदर्श, रहन-सहन का आदर्श यही बनना चाहिये कि खेतिहरों की श्रेणी में हमारी गिनती हो। हालैंड के एक सज्जन से एक दिन भेंट हुई। नाम था रीरिंक। री—ऋष्य या हिरन, और रिंक—रिंग या पट्टी; जिस हिरन की गर्दन में पट्टी पड़ी हो। नाम का अर्थ जानकर आत्मीयता बढ़ी। उसने बड़े आनमान से कहा कि मैं धरती का विशेषज्ञ हूँ। हमारा देश किसानों का है, वही हमारा धन्धा है। हमारे पास कोयला और यन्त्र नहीं, पर हमें अपनी खेती का गर्व है। बीस वर्षों से मैं भारत में काम कर रहा हूँ। यहाँ भूमि का विज्ञान उन्नत होना चाहिये, भूमि-सम्बन्धी साहित्य (सोआएल सायंस और सोआएल लिटरेचर) बढ़ना चाहिये। 'अधिक अन्न उपजाओ' का अर्थ है हर बीघे में आज से सवाया-ड्योढ़ा अन्न उत्पन्न करना, नई भूमि को तोड़कर जोत में लाना नहीं। उसके लिये विशेष पानी, बीज, खाद और श्रम की आवश्यकता होगी। भूमि में डाला हुआ एक बीज आज यदि चालीस दाने उत्पन्न करता है तो ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि हर बाल में दानों की संख्या बढ़े और हर पूँजे में से बिआस की संख्या बढ़े। यह अच्छे खाद से हो सकेगा। इसके लिए गोबर की तैयार की हुई खाद अनमोल है। गोबर की खाद मिट्टी के

गड्ढों में डालकर ठीक तरह से सड़ाई ग्रौर तैयार की गई हो। साल-भर पुरानी गोबर की खाद भूमि की सर्वोत्तम खूराक है । रीरिंक की बात ध्यान से सुनने ग्रौर मानने लायक है ।

हज़ारों बरसों से भारतीय किसान गोबर की खाद काम में लाते रहे हैं । **गोबर मैला पानी सड़ै । तब खेती में दाना पड़ै ।। खेती करै खाद से भरै । सौ मन कौठिला से ले धरै ।।** लेकिन खाद तैयार करने का सही तरीका ग्राज वे काम में नहीं लाते । खाद का नमकीन सारांश खेत में पहुँचने से पहले ही धुल जाता है । खाद शब्द 'खात' से बना है । खात का ग्रर्थ है, गड्ढा । भूमि में खात या गड्ढा खोदकर उसमें गोबर-मिट्टी की तह-पर-तह चढ़ाकर बढ़िया खाद तैयार होती थी । उसमें थोड़ी मेहनत पड़ती है, पर किसान के लिए वही सोना है। उसकी गाढ़ी कमाई में बरकत देनेवाला पदार्थ खाद ही है। **खात परै तो खेत, नाहिं कूड़ा-रेत ।** वही खेत, वही किसान ग्रौर वही बीज—पर बढ़िया खाद का रसायन पाकर धरती सोना उगलने लगती है । गाँव-गाँव में लाखों-करोड़ों खेतों में खाद तैयार करने की सही परिपाटी डालनी चाहिए । एक भी किसान ऐसा न रहे जो खाद के सही तरीके को ग्रमल में न लाता हो । सारा जनपद इसे ग्रपने जीने-मरने का प्रश्न समझकर ग्रपनावे । ग्राज गाँव की कूड़ियों पर खाद का रत्न फेंककर हम उसकी ग्रोर से ग्राँख मींच लेते हैं ग्रौर बरसात बाद धुलकर जो बच रहता है, उसे खेतों में जा पटकते हैं । वह खाद नहीं है, खाद की ठठरी ग्रवश्य है । धरती उसे क्या माने ग्रौर कैसे ग्रपना काम चलावे ? उसकी कोख में से जौ-गेहूँ के

खूद और ईख के पोये जन्म लेते हैं। पर मरभुखे जैसे। उनमें तेज नहीं, तगड़ापन नहीं, हवा-पानी उन्हें बर्दाश्त नहीं होती और प्रकृति के छोटे-मोटे परिवर्तन उन्हें घुड़क लेते हैं। पर यदि खाद को ठीक ढंग से गड्ढों में सड़ा-गलाकर तैयार किया जाय तो वह तिजोरियों में जमा की हुई धनराशि की तरह मूल्यवान् होगा और जिस भूमि को वह खूराक मिलेगी, उसीमें नया चमत्कार पैदा होगा। कहा भी है कि झूठी खाद खाने वाला खेत दुबला रहता है, पर सड़ी खाद पाकर वही मुटा जाता है—**अबर खेत जुट्ठी खाय सड़ै बहुत तो बहुत मोटाय ॥** धरती किसान से कहती है—जाओ, खेत में गोबर की खाद डालो और खेती का स्वाद देखो—**जाकर देओ गोबर खाद तब देखो खेती का स्वाद ॥** भूमि की परवरिश किसान-जीवन की बुनियाद है। गोबर की खाद के लिए गोधन की आवश्यकता होगी। गोधन के लिए चरावर धरती और खेतों में पैदा किये हुए चारे की जरूरत है। खेतों में अन्न-भूसे की कमी हुई तो जंगलों के भी खेत बना लिए गए। गाँव के पोहों के लिए चरने का ठिकाना न रहा तो किसान के लिए गोधन का रखना कठिन हो गया। गोधन के छीजने से एक ओर खाद का और दूसरी ओर घी-दूध का सिलसिला टूट गया। खाद के बिना धरती की मौत हुई और गोरस के बिना मनुष्य की देह सूख गई। यह क्रूर चक्कर है, जिसकी कराल दाढ़ों के बीच में भारतीय किसान फँस गया है। धरती-खाद-गोधन-चरागाह एक ही लक्ष्मी के चार हाथ हैं। एक की कुशल दूसरे की कुशल के साथ गुँथी हुई है। एक को भी हम सचाई से

ठीक करने लगें तो दूसरे अंग उसीके साथ ठीक होने लगेंगे। गाँवों के कल्याण का संदेश ढीला पड़ा हुआ है। उसमें बिजली भरने की आवश्यकता है। हलधर मनोवृत्ति के प्रचार से शहर और गाँवों में किसान के जीवन के प्रति नई रुचि उत्पन्न होगी और संकल्पवान् चित्तों में नए कार्यक्रम का उदय होगा।

१४

राष्ट्रमाता बा

सम्भवतः उन दिनों डा० अन्सारी की कोठी में 'गाँधी-अर्विन पैक्ट' की धूम थी। बहन उर्मिला अपने दैनिक पत्र 'जन्मभूमि' के लिए सवेरे-सवेरे पूज्य बापू का संदेश लेने जा रही थीं। किसी भव्य मन्दिर में अद्भुत दृश्यों की कल्पना से मां का आंचल पकड़ उचक-उचक कर चलने वाले शिशु की भाँति मैं भी साथ चल दी।

एक स्वयंसेवक हमें एक छोटे-से हाल में ले गया। एक ओर ऊपर तक बिस्तरों के ढेर तथा कपड़े के लटके थैलों में वस्त्र आदि, दूसरे कोने में चर्खे करीने से रखे थे, तीसरे में स्टोव तथा छोटी अंगीठी पर खान-पान की व्यवस्था हो रही थी। कमरे के बीचों-बीच मानों उस सुव्यवस्थित वातावरण की प्रतिमा-सी मृदु हँसी एवं भाल पर कुंकुम दिए एक वृद्धा स्त्री चर्खा कात रही थी। देखते ही मुझे बा का अनुमान हो आया। हम दोनों वहीं उनके पास बैठ गईं। इसी समय शुभ्र चादर ओढ़े एक सौम्य मूर्ति ने प्रवेश किया और बा से

कुछ पूछा। इतने समीप, उन्हीं के घर पर!…उस समय उस महान् आत्मा के आगे प्रणत होने के सिवाय कुछ सूझ न पड़ा।

बाहर के कई विशेष व्यक्तियों से महात्मा जी की आवश्यक बातचीत का समय निश्चित था। अतः हमें काफी देर बा के पास बैठने का अवसर मिला। बहिन उर्मिला द्वारा लिखित 'कारागार' की भूमिका बा ने ही लिखी थी। उनसे उर्मिला का परिचय शायद कारावास के दिनों में ही अधिक रहा होगा। सो वे दोनों परस्पर जेल के अनुभवों की बातें करती रहीं।

एक शीतल सघन छाँह में से मानो उठकर, घर आते ही सब लोगों ने घेरकर उत्सुकता से प्रश्न किये तो मैंने कहा, "कुछ भी नहीं! ठीक साधारण मुसाफिरों की तरह वे लोग रहते हैं। खासकर बा तो नितांत ही साधारण स्त्री हैं।" लौटती बार वहां की पान्थशाला की अनुपम सुव्यवस्था ने मुझे लुभा लिया था।

◆ ◆ ◆

कन्याओं के लिए एक उपयोगी संग्रह की इच्छा बहुत दिनों से मन में थी। गांधीजी की पूजनीय जननी का रेखा-चित्र उसमें अवश्य होना चाहिए, इसी सम्बन्ध में दोपहर के समय बा से मिलने के लिए हरिजन बस्ती गई। उस दिन प्रातः प्रार्थना में भी सम्मिलित होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जाड़े के दिनों में सवेरे ४ बजे पैंसठ वर्षीया नारी को नंगे पैर, हाथों में लैंप लिए आश्रम में स्फूर्ति से घूमते और मध्याह्न से पांच बजे तक उसी उत्साह से इधर-

उधर, ऊपर-नीचे काम-काज में व्यस्त देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। उनकी पुत्रवधू श्रीमती देवदास गांधी द्वारा जब मैंने अपना अभिप्राय बताया तो बोलीं, "भई, पहले तो मुझे बापू को जिमाना है।" मुझे अकस्मात् हँसी आ गई मानो बापू उनके बच्चे हों, खाना-खिलाना, घी, तेल मलना। ज्ञात हुआ—आज बापू का जन्मोत्सव है। बापू बा के हाथों ही खायेंगे और बा उन्हें खिलाकर ही उपवास तोड़ेंगी।

"उसने बहुत कुछ लिख दिया है। मैं और क्या कहूँ! अच्छा चलो! कुछ जलपान कर लो।"

घंटा भर प्रतीक्षा करने के बाद 'खा-पी लो, जलपान कर लो', यही उत्तर पाकर मैंने झुंझलाकर यह निष्कर्ष निकाला कि बा पुराने ढंग की भोली-भाली अति साधारण स्त्री हैं, जिन्हें निजी व्यक्तित्व तथा अपनी कुछ कहने-सुनने के लिए, खिलाने-पिलाने, घर के काम-काज आदि से तनिक भी फुर्सत नहीं।

तो भी उस अत्यन्त साधारण नारी के मृदु व्यवहार के प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया। दो-एक वर्ष बाद पुनः जब वे यहीं कनाट सर्कस में अपने कनिष्ठ पुत्र श्री देवदास गांधी के यहाँ ठहरीं तो मिलने गई।

स्वस्थ थीं; पर खाली तब भी न बैठी थीं। मैंने अपनी कहानी-संग्रह 'दो फूल' उनका नाम लिखकर भेंट किया तो विशेष प्रसन्न हुईं। अपने दोनों नातियों को बुलाकर परिचय कराया। तब उपयुक्त अवसर जानकर मैंने उनके प्रारम्भिक जीवन तथा उनकी स्वर्गीया सास के बारे में बातचीत शुरू की। स्मृति-स्वरूप ऐसी कितनी ही लज्जास्मित रेखाएँ उस वृद्ध

चेहरे पर दौड़ गई जो कभी भूल न सकूँगी।

बहुत-सी बातें चर्खा कातते-कातते वे सुनाती रहीं, जिनकी मधुरता में मैं उन्हें लिपिबद्ध करना भूल गई। ऐसे अपनत्व में जान ही न पड़ा कि मैं किसी विशेष कार्य से आई हूँ।

अकस्मात् गाड़ी में कहीं जाते-जाते समाचार मिला, "बा इस संसार में नहीं हैं।" एकाएक आत्मकथा के कितने ही पन्ने आँखों के सामने पलट गए।

"जब मुझे विवाह का स्मरण हो आता है तो अपने पर दया आने लगती है। तेरह वर्ष की उमर में हमारा विवाह हुआ और उन बच्चों को बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी दुर्गति से अब तक बचे हुए हैं।

जोहान्सबर्ग में मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जाति के थे। कमरों में हमारे घर में पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करने का काम हम दोनों का था, नौकरों का नहीं। और बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती; लेकिन इस भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों की आपस में खूब चली! यदि मैं उठाता हूँ तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता! और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आँखों से मोती की बूँदें टपक रही हैं, एक हाथ में बर्तन है और अपनी लाल-लाल आँखों से उलाहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही हैं। यह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूँ; परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निठुर और कठोर भी। मैं अपने को उसका शिक्षक मानता

था। इससे अपने अन्ध-प्रेम के अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बर्तन उठा ले जाने भर से सन्तोष न हुआ। मैंने चाहा कि वह उसे हँसते हुए ले जाय। और उसके लिए मैंने उसे डाँटा-डपटा भी। उत्तेजित होकर कहा—'देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में न चल सकेगा।'

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। धधकते हुए दिल से उसने कहा—'तो लो रखो यह अपना घर! मैं चली!'

उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गई थी। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर निकलने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़कर दरवाजे तक खींचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला कि आँखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोली—

'तुम्हें तो कुछ शर्म है ही नहीं, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊँ कहाँ? माँ-बाप भी यहाँ नहीं कि उनके पास चली जाऊँ! मैं ठहरी स्त्री! इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी पड़ेगी। अब जरा शर्म करो और दरवाजा बन्द कर लो। कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।'

मैंने अपना चेहरा सुर्ख बनाए रखा; पर मन में शरमा गया। दरवाजा बन्द कर दिया। जब पत्नी मुझे छोड़कर नहीं जा सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था। इस तरह हमारे आपस में लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं; परन्तु

उनका परिणाम सदा ही अच्छा निकला है। उसमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा विजय प्राप्त की है।

आज मैं तब की तरह मोहान्ध पति नहीं हूँ, न उसका शिक्षक ही हूँ। हम आज एक दूसरे के भुक्त-भोगी मित्र हैं। एक-दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई है, जो बीमारियों में बिना प्रतिफल की इच्छा किये सुश्रूषा करती है। मेरे पीछे-पीछे चलने में उसने अपने जीवन की सार्थकता मानी है—और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्नों में उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनों की बुद्धि और शक्ति में बहुत अन्तर है तो भी मेरा खयाल है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और उर्ध्वगामी है।···

१८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थीं। पर इस बार की भेंटों में सोने-चांदी की चीजों के अतिरिक्त हीरे की चीजें भी थीं। एक पचास गिन्नी का हार कस्तूरबाई के लिए था, मगर उसे जो चीज मिली थी, वह भी तो मेरी ही सेवा के फलस्वरूप। अतएव मैं लोक-सेवा के उपलक्ष्य में दी गई चीजें (चाहे वह मुवक्किलों से ही हों) कैसे मंजूर कर सकता था ?

जिस शाम को वे उपहार मिले वह रात मैंने पागल की तरह जागकर काटी। न लेना भारी पड़ रहा था, पर लेना उससे भी भारी मालूम होता था, क्योंकि मेरे बच्चों और पत्नी को तालीम तो सेवा की मिल रही थी—'सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता'—यह हमेशा सिखाया जाता था। सादगी

बढ़ती जाती थी—घर में कीमती जेवर, घड़ियां, हीरे की अंगूठियां कौन पहनेगा ?

अन्त में इस निर्णय पर पहुँचा कि वे चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना कठिन पड़ेगा; पर विश्वास था कि बालकों को समझाने में जरा भी दिक्कत पेश न आयेगी। अतः उन्हें वकील बनाने का विचार किया। बच्चे तुरन्त समझ गये और बोले—'हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं। चीजें लौटा देनी चाहिएँ।' मैं प्रसन्न हुआ—'तो तुम बा को समझाओगे न ?'

'जरूर, वह कहां इन गहनों को पहनने चली हैं!' परन्तु काम अन्दाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

'तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कों को भी न हो, बच्चों को क्या ? जैसा समझा दें, समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओं को जरूरत न होगी ? जो चीजें इतने प्रेम से लोगों ने दी हैं उन्हें वापस लौटाना ठीक नहीं।'—इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा भी आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और भला मैं क्यों डिगने लगा !

मैंने धीरे से कहा—'पहले लड़कों की शादी तो होने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते हो नहीं हैं। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें गहने-कपड़ों की शौकीन बहुएँ खोजनी हैं ? फिर भी अगर कुछ बनवाना होगा तो मैं कहां चला गया हूँ ?'

'हां, जानती हूँ तुमको ! वही न हो जिन्होंने मेरे भी

गहने उतार लिए हैं। जब मुझे ही नहीं पहनने देते तो मेरी बहुओं को जरूर ला दोगे! लड़कों को तो अभी से बैरागी बना रहे हो! पर इन गहनों को मैं वापस नहीं होने दूँगी! और फिर हार पर तुम्हारा क्या हक?'

'यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी?'

'जैसा भी हो! तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नहीं है? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-ग़ैरों को घरों में रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नही?'

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही चुभ रहे थे, पर गहने लौटाने का निश्चय तो कर चुका था। अन्त को बहुतेरी बातों में जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका।

किन्तु अगले दस वर्षों की कठोरताओं ने युवती बा के जीवन को कुछ और ही बना दिया। उनके हठधर्मी पति का अवतरण केवल मानव-समाज के कल्याण के हेतु हुआ है, यह उसने पहचान लिया और नारी-सुलभ सभी स्वाभाविक आकांक्षाओं की आहुति दे दी।

१९१२ में एक ऐसा मामला अदालत में आया जिसमें न्यायाधीश ने यह फैसला दिया कि दक्षिण अफ्रीका के कानून में उसी विवाह के लिए स्थान है, जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है—अर्थात् जो विवाह अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है, उसके सिवा और किसी विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं। इस भयंकर फैसले के अनुसार हिन्दू, मुस्लिम

पारसी, सभी विवाह रद्द करार दे दिये गए और उसकी मंशा के अनुसार दक्षिण अफ्रीका में विवाहित कितनी ही भारतीय स्त्रियों का दरजा धर्मपत्नी का न रहा। वे सरासर रखेलियां समझी जाने लगीं। स्त्रियों का ऐसा अपमान होने पर धीरज धारण कैसे किया जा सकता था ? स्त्रियों को सत्याग्रह में शामिल होने से हम कैसे रोक सकते थे ? सभी तो जेल जाने को तैयार थीं। किन्तु अपनी पत्नी को इस विषय में मैं नहीं कहना चाहता था; क्योंकि ऐसे जोखिम के समय सभी अपने आप जो काम करें उसी को मंजूर कर लेना हितकर होता है; किन्तु पत्नी ने कहीं-न-कहीं यह सब सुन लिया, बोली—

'दुख है कि आप मुझसे इस विषय में बातचीत क्यों नहीं करते ! मुझमें कौन-सी खामी है जो मैं जेल न जा सकूंगी ? मैं भी उसी पथ पर चलना चाहती हूं जिसके लिए आप इन बहनों को सलाह दे रहे हैं।'

'पर अगर अदालत में खड़ी रहते समय तुम्हारे हाथ-पाँव कांपने लगे, हिम्मत हार जाओ, जेल के कष्ट बर्दाश्त न कर सको तो मेरा हाल क्या होगा ? संसार में हम ऊँचा सिर करके कैसे खड़े रह सकेंगे ?'

'यदि मैं हिम्मत हारकर छूट जाऊँ तो आप मुझे अंगीकार मत कीजियेगा। आप यह कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि आप और बच्चे तो उन कष्टों को सह सकते हैं—अकेली मैं ही उन्हें नहीं सह सकूँगी ! मुझे तो आपको इस युद्ध में शामिल करना ही पड़ेगा।'

'तुम मेरी शर्त भी जानती हो। स्वभाव से भी परिचित

हो। अब भी विचार करना हो तो कर लो।'

'मुझे कुछ सोचना-विचारना नहीं है। मैं अपने निश्चय पर दृढ़ हूँ।'

और वास्तव में स्त्रियों की बहादुरी का वर्णन करना कठिन है। नेटाल की राजधानी मैरित्सबर्ग की जेल में वे रखी गईं, उन्हें खूब कष्ट दिए गए, खान-पान की जरा भी चिन्ता नहीं की जाती थी—काम उन्हें धोबी का दिया गया—बाहर से खाना मँगाने की सख्त मनाही थी। कस्तूरबा को बीमार होने के कारण जैतून का तेल आदि खास तरह का भोजन मिलना चाहिए था; किन्तु अधिकारियों का उत्तर था, 'यह होटल नहीं? जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा।' इसीसे जब वह जेल से छूटी तो बदन में हड्डियाँ भर रह गई थीं और बड़ी मुश्किल से बची।"

पुनः स्वदेश लौट आने पर जिस प्रकार उन्होंने बार-बार अपने को अर्पण किया, जीवन के कटु अनुभवों ने उन्हें ढालकर जिस ऊँचे मानसिक स्तर पर पहुँचा दिया, बिना एक शब्द भी किसी से प्रोत्साहन अथवा मुस्कराहट के निरन्तर युद्ध में जिस प्रकार वे जूझती रहीं—सत्याग्रह-आश्रम साबरमती या फिनिक्स, डरबन या सेगाँव! आश्रम-संस्थाओं का परिपूर्ण संचालन और आतिथ्य करने वाली! तिस पर भी अनेक अग्नि-परीक्षाएँ!

सहसा जी कांप उठा। उस साधारण नारी के कठोर साधना में बीते लम्बे, असाधारण जीवन की ओर दौड़ती

हुई मेरी आँखें सजल हो उठीं। हृदय से अनायास निकल पड़ा—

बा की तुलना, महलों में वियोग के आँसू बहाने वाली यशोधरा एवं उर्मिला से नहीं, अपितु चिरसंगिनी सीता अथवा प्राणदात्री सावित्री से ही हो सकती है। शरत् चाँदनी की तरह उज्ज्वल, जाह्नवी की पुण्यधारा-सी निर्मल, युगान्तर से अपने अस्तित्व को मिटाकर, पुरुष को गौरव प्रदान करती हुई, भारतीय नारी का श्रेष्ठ स्वरूप, जिसके दोनों महिमामय हाथ पलना झुलाते, पलकें प्रतीक्षा में और प्राण छाया की भांति साथ-साथ चलते हैं।

१५

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

सर्वज्ञ परमात्मा भी कभी-कभी भौगोलिक भूलकर बैठता है। दूर जाने की जरूरत क्या है? भारत में ही आपको परमात्मा की दो चलती-फिरती भौगोलिक भूल दीख सकती हैं; एक तो भारत-भक्त ऐण्ड्रूज़ और दूसरी श्रीमती सरोजिनी नायडू। पहले का जन्म कहीं काशी या प्रयाग में होना चाहिए था, दूसरे का पेरिस या न्यूयार्क में। दोनों का अन्तर प्राच्य और पाश्चात्य मनोवृत्ति का अन्तर है। यहाँ दोनों की तुलना करके किसी को छोटा-बड़ा कहना हमारा उद्देश्य नहीं है। पहले के हम भक्त हैं, दूसरे के प्रशंसक। यदि कोई हमसे पूछे कि प्राच्य और पाश्चात्य में कितना अन्तर है तो हम यही उत्तर देंगे कि जितना शान्तिनिकेतन स्थित वेणुकुंज की पर्णकुटी और अशान्त बम्बई के ताजमहल होटल के २०) रोज वाले किराये के कमरे में! भौगोलिक भूल के कारण दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ का जन्म भारत के बजाय इंग्लैंड के उत्तरी भाग में न्यू कैसिल औन टाइन नामक नगर में १२ फरवरी सन् १८७१

में हुआ था। आपके पितामह जान ऐण्ड्रूज़ एक सुप्रसिद्ध शिक्षक थे। वे इतने सीधे थे कि अपने विद्यार्थियों को कभी नहीं पीटते थे। कहा जाता है कि एक बार उनके बहुत से विद्यार्थियों ने उनके पास जाकर निवेदन किया था—"आप हम पर हद से ज्यादा कृपा करते हैं। अब आप इस बेंत से हमारी खबर लिया कीजिए।"

मि० ऐण्ड्रूज़ के पिता का नाम जान एडविन ऐण्ड्रूज़ और माता का नाम मेरी शारलोट था। इस दम्पति के चौदह सन्तान हुईं, पाँच लड़के और नौ लड़कियाँ। इन में तीन लड़कियों का देहान्त हो गया, शेष ग्यारह अब भी जीवित हैं। मि० ऐण्ड्रूज़ अपने माता-पिता की चतुर्थ सन्तान हैं। इतने बड़े कुटुम्ब के पालन-पोषण में उनके माता-पिता को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी।

मि० ऐण्ड्रूज़ की माता के नाम कुछ धन-सम्पत्ति थी। उसका जो मुख्य ट्रस्टी था, वह उनके पिताजी का बड़ा मित्र था। वह ट्रस्टी बड़ा बेईमान निकला और उसने सट्टा खेलकर सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी! उस समय मि० ऐण्ड्रूज़ नौ वर्ष के थे। उस समय की दुर्घटना का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा था—

"पिताजी ने बैंक के मैनेजर के नाम तार देकर पूछा कि मेरी माता के नाम बैंक में कितना रुपया बाकी है? वहाँ से जवाब आया कि कुछ भी नहीं। इस समाचार को पाकर पिताजी के हृदय को जो धक्का लगा, उसकी याद मैं जिन्दगी भर नहीं भूल सकता। पिताजी को इसलिए और भी अधिक

दुःख था कि वह रुपया मेरी माता का था। इसके सिवा एक ऐसे मित्र ने, जिसको वे सबसे अधिक प्रेम करते थे, उनके साथ इस प्रकार विश्वासघात किया था। पिता जी दुःख के कारण बिल्कुल चुप रहे। मेरी माँ ने ही यह सम्पूर्ण बात मुझे सुनाई। माँ को उतना दुःख अपनी सम्पत्ति के नष्ट होने का नहीं था, जितनी उन्हें पिताजी के लिए चिन्ता थी। जब सन्ध्या हुई तो हम सबने मिलकर नित्य के नियमानुसार प्रार्थना की। पिताजी ने बाइबिल का वह वाक्य पढ़ा—'यदि मेरा कोई शत्रु इस प्रकार विश्वासघास करता तो मैं उसे सहन कर सकता था, लेकिन यह कार्य तूने—मेरे परिचित मित्र ने—किया, जिस पर मेरा इतना अधिक विश्वास था।' इस वाक्य को पढ़ने के बाद पिताजी बिल्कुल चुप हो गये। उस समय मैंने देखा कि वे अपने आँसुओं को रोकने की चेष्टा कर रहे हैं। उसके बाद हम सब ने घुटने टेककर प्रार्थना की। पिताजी की उस दिन की सम्पूर्ण प्रार्थना का तात्पर्य यही था—'हे परमात्मा, मेरे मित्र ने जो अपराध किया है, तदर्थ उसे क्षमा कीजिए। उसके हृदय में ऐसी प्रेरणा कीजिए कि वह अपनी भूल को समझकर पश्चात्ताप करे और उत्तमतर रीति से अपना जीवन व्यतीत करे।' अपने पिताजी की यह प्रार्थना मुझे जीवन-भर याद रहेगी। वे हम सबको समझाया करते थे—'देखो, तुम लोग अपने हृदय में मेरे मित्र के प्रति द्वेष-भाव मत रखना। मैं मानता हूँ कि उसने घोर अपराध किया है, लेकिन मुझे आशा है कि वह आगे चलकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेगा।' लोगों ने उनसे कहा भी कि आप इस पर मुक़दमा

चलाइए, पर पिताजी ने उन लोगों को डाँट बता दी ।"

माताजी के इस रुपये के ब्याज से कुटुम्ब के पालन-पोषण में बड़ी मदद मिलती थी और उसके अभाव से सबको बड़ी तकलीफ़ होने लगी । निर्धन आदमियों की बस्ती में एक मकान लेकर सबको रहना पड़ा । मि० ऐण्ड्रूज़ और उनके भाई-बहनों को खाने के लिए सूखी रोटी छोड़कर और कुछ नहीं मिलता था, पर इस दुर्घटना से सारे कुटुम्ब का प्रेम-बन्धन और भी दृढ़ हो गया। मि० ऐण्ड्रूज़ कहते हैं—"यह हम लोगों के लिए सर्वश्रेष्ठ दैवी आशीर्वाद था कि हम अत्यन्त निर्धन हो गये ।" इसमें सन्देह नहीं कि आज मि० ऐण्ड्रूज़ सैकड़ों ग़रीब आदमियों के दुःखों को समझने तथा दूर करने में जो समर्थ हो सके हैं, उसका मुख्य कारण यही है कि वे ग़रीबी के तमाम दुःखों को भोग चुके हैं और अब भी ग़रीब ही हैं ।

नौ वर्ष की उम्र तक मि० ऐण्ड्रूज़ को उनके माता-पिता ने घर पर ही पढ़ाया और फिर बर्मिंघम के किंग एडवर्ड हाई स्कूल में दाखिल करा दिया । क्लास में सबसे छोटे बालक होने के कारण स्कूल के बड़े लड़के उन्हें अक्सर तंग किया करते थे । मि० ऐण्ड्रूज़ अपनी कक्षा के सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थियों में से थे । स्कूल में दाखिल होने के बाद ही उनकी फीस माफ हो गई और एक पौंड प्रतिमास की छात्रवृत्ति भी मिलने लगी । जब स्कूल छोड़कर वे कालेज में गए तो पचास पौंड की वार्षिक छात्रवृत्ति उन्हें मिली । विश्वविद्यालय में चार वर्ष पढ़ने के बाद उन्हें अस्सी पौंड की वार्षिक वृत्ति मिली थी । मि० ऐंड्रूज़ के माता-पिता को उनकी शिक्षा के लिए कुछ भी

खर्च नहीं करना पड़ा था। इन वज़ीफ़ों से वह अपना सब खर्च चला लेते थे और अपने भाई-बहनों की भी कुछ मदद किया करते थे! मि० ऐण्ड्रूज़ को लैटिन और ग्रीक भाषा की कविता करने का बड़ा शौक था। गणित में उनका मन कभी नहीं लगता था, उससे वे घृणा करते थे। साहित्य से उन्हें अत्यन्त प्रेम था और वे पुस्तकालय में बहुत-सा समय बिताया करते थे। लड़कों ने उनकी पढ़ने की प्रवृत्ति को देखकर उन्हें 'प्रोफेसर' की उपाधि दे रक्खी थी। बहुत पढ़ने के कारण वे कुछ झुककर चलते थे—कमर बिलकुल सीधी करके नहीं, इसलिए लड़के उन्हें चिढ़ाया करते थे—"लो, ये आये प्रोफेसर साहब!" जब उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा दी तो वे उसमें बड़ी योग्यतापूर्वक उत्तीर्ण हुए। उनके परीक्षकों ने उनसे कहा था—"पिछले दस वर्ष में केवल एक विद्यार्थी के नम्बर आपसे अधिक आये थे।"

मि० ऐण्ड्रूज़ कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के पैम्ब्रोक-कालेज के फैलो बना लिये गये और थियोलाजी विभाग के वायस-प्रिंसिपल भी बन गये। यदि वे उसी कालेज में बने रहते तो कैम्ब्रिज-यूनिवर्सिटी में उच्च-से-उच्च पद तक पहुंच सकते थे, पर उन्हें वह जीवन पसन्द नहीं आया और उसके बजाय उन्होंने लन्दन के गन्दे मुहल्लों के गरीब भाई-बहनों की सेवा का कार्य उत्तमतर समझा। उनके जीवन के चार वर्ष बालवर्थ (दक्षिण-पूर्व लन्दन) और सदरलैंड के मजदूरों के बीच में कार्य करते हुए बीते। उन दिनों विलायत में मजदूरों को प्रति सप्ताह पच्चीस शिलिंग वेतन मिलता था। मि० ऐण्ड्रूज़ ने दस शिलिंग प्रति सप्ताह

पर अपनी गुजर करना शुरू किया, क्योंकि वे अविवाहित थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दस शिलिंग सप्ताह के पहले ही खतम हो जाते थे और उन्हें भूखा रहना पड़ता था। गरीबों को पेट भरने में जो कठिनाई होती है, उसका उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया। चार वर्ष तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के बाद उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और डाक्टरों की सलाह से आपको यह कार्य छोड़ देना पड़ा।

भारत के प्रति मि० ऐण्ड्रूज का प्रेम बाल्यावस्था से ही था। कहीं किसी किताब में उन्होंने पढ़ा था कि हिन्दुस्तान के आदमी भात बहुत खाते हैं इसलिए आप भी अपनी माँ से जिद करके भात बनवाते थे, और कहते थे, "मैं हिन्दुस्तान को जाऊँगा।" माँ बहुत हँसती और कहती—"चार्ली, तुम किसी-न-किसी दिन हिन्दुस्तान जरूर जाओगे।" माता की यह भविष्यवाणी आगे चलकर सत्य सिद्ध हुई और मि० ऐण्ड्रूज २० मार्च १९०४ को भारत आ पहुँचे। २० मार्च को वे अपना द्वितीय जन्मदिवस मानते हैं। इस प्रकार वे 'द्विज' हैं। लन्दन से विदा होते समय वे उस बस्ती में, जहाँ उन्होंने गरीबों के बीच साढ़े तीन वर्ष तक काम किया था, गये। वहाँ की एक प्रेमी भोली-भाली बुढ़िया उनसे बोली—"ऐण्ड्रूज! मैंने सुना है कि हिन्दुस्तान के आदमी नरमांस-भक्षी हैं, आदमियों को खा जाते हैं! मैं दिन-रात तुम्हारे लिए ईश्वर से प्रार्थना करती रहूँगी कि वे कहीं तुम्हें खा न जावें!"

मि० ऐण्ड्रूज केम्ब्रिज-मिशन के मिशनरी बनकर भारत आये थे और आते ही सेण्ट स्टीफेन्स-कालेज में अध्यापक हो

गये। यह कालेज मिशनरियों का है। साल भर बाद अधिकारियों का विचार हुआ कि मि० ऐएड्रूज़ को प्रिंसिपल बना दिया जाय। पंजाब के लार्ड बिशप ने मि० ऐएड्रूज़ से कहा— "किसी अंग्रेज को ही प्रिन्सिपल बनना चाहिए, क्योंकि हिन्दुस्तानी माता-पिता अंग्रेज प्रिन्सिपल पर ही विश्वास करेंगे। हिन्दुस्तानी प्रिन्सिपल कालेज में अनुशासन भी न रख सकेगा और संकट के समय वह विद्यार्थियों से दब जायगा, इसलिए आप प्रिन्सिपल बनना स्वीकार कर लीजिए।" मि०ऐएड्रूज़ ने जवाब दिया—

"श्रीयुत सुशीलकुमार रुद्र इस कालेज में बीस वर्ष से प्रोफेसर हैं और वे इस पद के सर्वथा योग्य हैं। उन्हींको प्रिन्सिपल बनाइये। अगर वर्ण-भेद के कारण वे प्रिन्सिपल नहीं बनाये गये और कोई अंग्रेज प्रिन्सिपल बनाया गया तो मैं इस कालेज से त्याग-पत्र दे दूंगा। मैं वर्ण-भेद की नीति को कदापि सहन नहीं कर सकता।" परिणाम यह हुआ कि मि० रुद्र ही प्रिन्सिपल बनाये गये। यह घटना जहाँ मि० ऐएड्रूज़ की न्यायप्रियता और स्वार्थत्याग को प्रकट करती है, वहां उससे उनके स्वभाव की कुंजी भी मिल जाती है। वे कहा करते हैं कि यदि कोई अंग्रेज भारत की कुछ भलाई करना चाहे तो उसे धन, पद और नेतृत्व के प्रलोभनों से बचना चाहिए, उसे सेवक बनना चाहिए, लीडर या शासक नहीं। मि० ऐएड्रूज़ को अपने कार्य में पिछले छब्बीस वर्ष में जो सफलता मिली है, उसका मूल कारण यही है कि उन्होंने धन, पद और नेतृत्व के प्रलोभनों से अपने को सदा ही बचाया है।

मि० ऐण्ड्रूज के भारत में आते ही ऐंग्लो-इण्डियन लोगों ने उन्हें उपदेश देना शुरू किया था—"कभी किसी हालत में किसी 'नेटिव' से मत दबना और किसी नेटिव के दिल में यह खयाल भी न पैदा होने देना कि वह तुम से ऊँचा है। हिन्दुस्तानी लोग नीच जाति के हैं और हम लोग अपनी तलवार के बल पर हिन्दुस्तान में राज्य करते हैं। आप हिन्दुस्तानियों के साथ मेहरबानी का बर्ताव भले ही करें, लेकिन हमेशा सावधान रहें और अंग्रेजपन के गौरव को आप कभी न छोड़ें।"

पर मि० ऐण्ड्रूज़ ने इन सदुपदेशों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, और उन्होंने वर्ण-विद्वेष को दूर से ही नमस्कार कर दिया। मि० ऐण्ड्रूज़ का झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर होने लगा। सन् १९०६ की कलकत्ते की कांग्रेस में वे दर्शक की भांति आकर सम्मिलित हुए। मि० गोखले से आपका परिचय इसी कांग्रेस से प्रारम्भ हुआ था। जब सन् १९०६ में लाला लाजपतराय को देश-निकाले का दण्ड दिया गया तो मि० ऐण्ड्रूज ने अपने एक व्याख्यान में सरकार के इस कार्य की निन्दा की। सेण्ट स्टीफ़ेन्स कालेज की डिबेटिंग सोसायटी में भी आपके सभापतित्व में इस आशय का निन्दात्मक प्रस्ताव पास हुआ। मिशनरी लोग घबराये, क्योंकि कालेज मिशन वालों का था और उसे सरकार से मदद मिलती थी। जब लालाजी छूटकर आये तो कालेज के लड़कों ने प्रिन्सिपल रुद्र की अनुपस्थिति में मि० ऐण्ड्रूज़ से कहा—"हमारे पूज्य नेता लाला लाजपतरायजी छूट आये हैं, इसलिए कालेज में हम

रोशनी करना चाहते हैं। आपकी क्या सम्मति है?" मिस्टर ऐएड्रूज़ ने जवाब दिया—"ज़रूर, आप लोग पूरी-पूरी दिवाली मनाइये।" दिवाली मनाई गई। इस कारण ऐंग्लो-इण्डियन लोग मि० ऐएड्रूज़ से और भी ज्यादा चिढ़ गये। मि० ऐएड्रूज़ इस बात को अच्छी तरह समझ गये कि मिशनरी कालेज की नौकरी करते हुए वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं ले सकते। इसलिए सन् १९१४ में आपने यह नौकरी छोड़ दी।

जब सन् १९१३ में दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गान्धीजी का सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था, उस समय राजर्षि गोखले ने उसकी सहायता के लिए भारत में बहुत-कुछ आन्दोलन और चन्दा किया था। मि० ऐएड्रूज़ ने उस समय गोखले की बड़ी सहायता की और अपनी जिन्दगी-भर की कमाई के जो चार हजार रुपये उनके पास थे, वे सब उन्होंने गोखले को चन्दे में दे दिये। इसके बाद वे गोखले के आदेशानुसार दक्षिण अफ्रीका को भी गये थे। वहां जाकर उन्होंने जनरल स्मट्स के साथ समझोता कराने में महात्माजी को बड़ी सहायता दी थी। स्वयं महात्माजी ने अपने एक भाषण में कहा था—"मुझसे केपटाउन में लोगों ने कहा और मुझे निःसन्देह इस बात पर विश्वास है कि जिन-जिन राजनीतिज्ञों और प्रधान मनुष्यों से ऐएड्रूज़ मिले, उन सबके हृदय ऐएड्रूज़ के विचारों से प्रभावित हो गये थे।"

दक्षिण अफ्रीका से मि० ऐएड्रूज़ विलायत गये और वहाँ से लौटकर सन् १९१४ में दिल्ली आ पहुँचे। जून १९१४ में आप शान्तिनिकेतन आ गये और तबसे शान्तिनिकेतन ही

आपका घर है। उस समय मि० ऐण्ड्रूज़ के स्वागत में कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ने जो कविता बनाई थी वह यहाँ दी जाती है—

'प्रतीचीर तीर्थं होते प्राण-रसधार,
हे बन्धु, एनेछो तुमि, कोरि नमस्कार!
प्राची दिल कठे तब बर माल्य तार,
हे बन्धु, ग्रहण करो, कोरि नमस्कार!
खुलेछे तोमार प्रेमे आमादेर द्वार,
हे बन्धु, प्रवेश करो, कोरि नमस्कार!
तोमारे पेयेछि मोरा दान रूपे जाँर,
हे बन्धु, चरणे ताँर कोरि नमस्कार!'

मि० ऐण्ड्रूज़ ने मातृभूमि भारत की सेवा के लिए जो-जो कार्य पिछले छब्बीस वर्ष में किये हैं, समाचार-पत्रों के पाठक उनसे कुछ-न-कुछ परिचित ही हैं। इन सब कार्यों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण शर्तबन्दी की कुली-प्रथा का बन्द कराना है। यह प्रथा सन् १८३५-३६ से जारी थी और उसके कारण सहस्रों भारतीय स्त्रियों के सतीत्व का नाश और भारतीय पुरुषों का नैतिक पतन हुआ था। दासत्व प्रथा के इस नवीन संस्करण को बन्द कराना आसान काम नहीं था, क्योंकि सर्व-शक्तिशाली गोरे प्लाण्टर और पूँजीपति इसके समर्थक थे; पर मि० ऐण्ड्रूज़ के निरन्तर उद्योग और आन्दोलन से यह प्रथा उठ गई। यद्यपि उन्हें इसमें भारतीय नेताओं से काफी सहायता मिली, तथापि मुख्य कार्य उन्हींका था। इसके लिए दो बार उन्हें फ़िजी की यात्रा करनी पड़ी थी।

प्रवासी भारतीयों के तो आप पूरे-पूरे सहायक हैं और उनकी दशा सुधारने के लिए आपने संसार के प्रायः सभी भागों में जहां भारतीय बसे हुए हैं, यात्रा की है। फ़िजी, आस्ट्रेलिया, कनाड़ा, न्यूजीलैण्ड, पूर्व अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका, ट्रिनीडाड, ब्रिटिश-गायना, सुरीनाम, मलाया, सीलोन इत्यादि उपनिवेशों के पच्चीस लाख निवासी जितने अंशों में आपके ऋणी हैं, उतने किसी दूसरे के नहीं। शान्तिनिकेतन और राष्ट्रीय शिक्षा के लिए जो कार्य आपने किया है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। मज़दूर-आन्दोलन में भी आपका ज़बरदस्त हाथ रहा है। पंजाब के मार्शल-ला के बाद आपने वहां पहुंचकर बड़ा काम किया था।

अकाल, बाढ़, हड़ताल आदि के समय आपने दीन-दुःखियों की जो सेवा की है, उससे समाचार-पत्रों के पाठक परिचित ही हैं। आपकी सेवाओं का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं किया जा सकता।

मि० ऐण्ड्र ज़ के व्यक्तित्व में एक अद्भुत आकर्षण है। सहृदयता, सच्चाई, सहिष्णुता और सरलता का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण केवल एक ही स्थान में पाया जा सकता है, यानी भारतीय माताओं में। अनेक भारतीय नेताओं ने मि० ऐण्ड्र ज़ की प्रशंसा की है। महात्माजी ने लिखा है—"सी० एफ० ऐण्ड्र ज़ से बढ़कर ज्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारत-भक्त इस भूमि में कोई दूसरा देश-सेवक विद्यमान नहीं।" श्रीविजयराघवाचारी ने नागपुर-कांग्रेस के सभापति के पद से कहा था—"रेवरेण्ड ऐण्ड्र ज़ में हावर्ड और

कृपर दोनों की मानव-जाति-सेवा का भाव सम्मिलित है।" लालाजी ने कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस में कहा था—"केवल एक अंग्रेज ऐसा है, जिसका नाम हमें कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए, वह है मि० ऐण्ड्रूज़ और वह हमारे घर के ही हैं।" पर इन प्रशंसाओं से मि० ऐण्ड्रूज़ के व्यक्तित्व की असलियत पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। महात्माजी ने एक बार बात-चीत में कहा था—'ऐण्ड्रूज़ तो पुरुष-वेश में स्त्री हैं। उनका हृदय स्त्रियों के हृदय की तरह कोमल है।" यह एक वाक्य मि० ऐण्ड्रूज़ के व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। उनके हृदय की कोमलता—उनकी सहृदयता—ही उनके जीवन की सफलता का मूल कारण है। यह सहृदयता ही उन्हें भारतीयों के दुःख दूर करने के लिए संसार-भर में घुमाती है और यही उनसे अधिक-से-अधिक परिश्रम कराती है। मि० ऐण्ड्रूज़ को अपनी मातृ-भूमि इंग्लैण्ड से भी अत्यन्त प्रेम है; पर उनका यह स्वदेश-प्रेम उच्च कोटि का है। स्वदेश-प्रेमी होना आसान है, लेकिन जिस समय अपना देश ग़लत रास्ते पर जा रहा हो, उस समय स्वदेश-विरोधी होना कठिन है।

बाइबिल में एक जगह लिखा है—"परमात्मा का राज्य बच्चों के लिए है," अर्थात् भोले-भाले आदमी ही उसके अधिकारी हैं। मि० ऐण्ड्रूज़ में यह भोलापन काफ़ी अधिक मात्रा में पाया जाता है और उनको धोखा देना आसान है, इस कारण वे राजनैतिक नेता होने के सर्वथा अयोग्य हैं। उनका मुख्य कार्य सुलह कराना है—पूर्व और पश्चिम में, मज़दूरों और पूंजीपतियों में, प्रजा और

सरकार में, महात्मा गांधी और कविवर रवीन्द्रनाथ में। मि० ऐण्ड्रूज़ के हृदय की कोमलता उनके व्यक्तित्व की प्रबलता के मार्ग में बाधक है। वे सदा महात्माजी या कविवर का आश्रय ढूँढ़ते हैं और पहले के शिष्य और दूसरे के दूत बनने की निरन्तर लालसा ने उनके व्यक्तित्व की स्वाधीनता को कुछ धक्का अवश्य पहुँचाया है।

मि० ऐण्ड्रूज़ की परिश्रमशीलता अद्भुत और आश्चर्य-जनक है। उन्होंने विवाह नहीं किया और सच्चरित्र होने के कारण उनकी सारी शक्तियाँ संचित रही हैं; पर इस बात का उन्हें खेद अवश्य है कि वे विवाह नहीं कर सके। एक बार मैंने उनसे धृष्टतापूर्वक यह प्रश्न किया कि आपने विवाह क्यों नहीं किया? उसके उत्तर में उन्होंने कहा था—

"विवाहित जीवन को मैं सदा ही स्त्री-पुरुषों के लिए प्राकृतिक और स्वाभाविक जीवन समझता रहा हूँ। गृहस्थ-जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। अविवाहित रहने से मेरे जीवन का विकास रुक गया और एकांगी बन गया। पुरुष जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग 'पितृत्व' है और मैं जीवन भर इस पितृत्व के पवित्र गौरव को नहीं समझ सकूंगा। मैं राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का निश्चय कर चुका था, इस कारण मिशन की नौकरी का कुछ ठिकाना नहीं था। रुपये-पैसे पास नहीं थे, घर-गृहस्थी कैसे चलती? इसलिए आर्थिक कारणों से मैं विवाह नहीं कर सका।"

'पितृत्व' के गौरव को वे भले ही न जानें, पर 'मातृत्व' के सर्वोच्च गुण, कोमल स्नेह, को वे खूब समझते हैं। यह प्रेम

उन्होंने अपनी दयालु माता से पाया है। मि० ऐण्ड्रूज़ की माता जब विलायत में मृत्यु-शय्या पर पड़ी थीं, तब, उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज़ को भारत से अपने पास बुलाया था। मि० ऐण्ड्रूज़ उन दिनों राजर्षि गोखले के साथ कार्य कर रहे थे। उन्होंने लिखा—"दक्षिण अफ्रीका में भारतीय स्त्री-पुरुष बड़े संकट में हैं। आज्ञा हो तो उनकी सेवा में जाऊं, नहीं तो आप की सेवा में आऊँ।" उन्होंने जब भारतीय स्त्री-पुरुषों के कष्ट का वृत्तान्त पढा तो उनका हृदय द्रवित हो गया और अपनी कुछ चिन्ता न कर उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज़ को लिख भेजा था—

"दक्षिण अफ्रीका जाकर भारतीयों की सहायता करो, और जब तक तुम्हारा कार्य समाप्त न हो, मत लौटो।" मि० ऐण्ड्रूज़ ने माता जी की आज्ञा का पालन किया। इधर वे दक्षिण अफ्रीका गये, उधर माता का स्वर्गवास हो गया! तब से स्नेही माता का यह सहृदय पुत्र 'भारत माता' को ही अपनी माता समझकर उसकी सेवा में निरन्तर लगा हुआ है। जब अनेक अंग्रेज गवर्नरों, वायसरायों और साम्राज्यवादियों के नाम साम्राज्य के साथ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायेंगे उस समय भी इस एक अंग्रेज का नाम भावी भारत-सन्तान के कृतज्ञता-पूर्ण हृत्पटल पर अमिट रूप से लिखा रहेगा।

१६

नींव की ईंट

वह जो चमकीली, सुन्दर, सुघड़ इमारत है, वह किस पर टिकी है ? इसके कंगूरे को आप देखा करते हैं, क्या कभी आपने इसकी नींव की ओर भी ध्यान दिया है ?

दुनिया चमक देखती है, ऊपर का आवरण देखती है, आवरण के नीचे जो ठोस सत्य है, उस पर कितने लोगों का ध्यान जाता है ?

ठोस सत्य सदा शिवम् होता ही है, किन्तु वह हमेशा ही सुन्दरम् भी हो, यह आवश्यक नहीं।

सत्य कठोर होता है, कठोरता और भद्दापन साथ-साथ जन्मा करते हैं, जीआ करते हैं।

हम कठोरता से भागते हैं, भद्देपन से मुख मोड़ते हैं—इसलिए सत्य से भी भागते हैं।

नहीं तो हम इमारत के गीत, नींव के गीत से प्रारम्भ करते।

वह ईंट धन्य है, जो कट-छँटकर कंगूरे पर चढ़ती है और

बरबस लोक-लोचनों को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

किन्तु धन्य है वह ईंट, जो जमीन के सात हाथ नीचे जाकर गड़ गई और इमारत की पहली ईंट बनी !

क्योंकि इसी पहली ईंट पर उसकी मज़बूती और पुख्तेपन पर सारी इमारत की अस्ति-नास्ति निर्भर है।

उस ईंट को हिला दीजिए, कंगूरा बेतहाशा ज़मीन पर आ रहेगा।

◇ ◇ ◇

कंगूरे के गीत गाने वाले ! आइए, अब नींव के गीत गायें !

वह ईंट, जो जमीन में इसलिए गड़ गई कि दुनिया को इमारत मिले, कंगूरा मिले !

वह ईंट, जो सब ईंटों से ज्यादा पक्की थी, जो ऊपर लगी होती, तो कंगूरे की शोभा सौगुनी कर देती !

किन्तु उसने देखा, इमारत की पायदारी उसकी नींव पर मुनहसिर होती है, इसलिए उसने अपने को नींव में अर्पित किया।

वह ईंट, जिसने अपने को सात हाथ ज़मीन के अन्दर इसलिए गाड़ दिया कि इमारत जमीन के सौ हाथ ऊपर जा सके।

वह ईंट, जिसने अपने लिए अन्धकूप इसलिए कबूल किया कि ऊपर के उसके साथियों को स्वच्छ हवा मिलती रहे, सुनहली रोशनी मिलती रहे।

वह ईंट, जिसने अपना अस्तित्व इसलिए विलीन कर दिया

कि संसार एक सुन्दर सृष्टि देखे।

सुन्दर सृष्टि ! सुन्दर सृष्टि, हमेशा ही बलिदान खोजती है, बलिदान ईंट का हो या व्यक्ति का !

सुन्दर इमारत बने, इसलिए कुछ पक्की-पक्की लाल ईंटों को चुपचाप नींव में जाना है।

सुन्दर समाज बने, इसलिए कुछ तपे-तपाए लोगों को मौन-मूक शहादत का लाल सेहरा पहनना है।

शहादत और मौन-मूक ! जिस शहादत को शोहरत मिली, जिस बलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई, वह इमारत का कंगूरा है—मंदिर का कलश है।

हां, शहादत और मौन-मूक ! समाज की आधारशिला यही होती है।

ईसा की शहादत ने ईसाई धर्म को अमर बना दिया, आप कह लीजिए। किन्तु, मेरी समझ से, ईसाई धर्म को अमर बनाया उन लोगों ने, जिन्होंने उस धर्म के प्रचार में अपने को अनाम उत्सर्ग कर दिया।

उनमें से कितने ज़िन्दा जलाये गये, कितने शूली पर चढ़ाये गये, कितने बन-बन की खाक छानते जंगली जानवरों के शिकार हुए, कितने उससे भी भयानक जन्तु—भूख-प्यास के शिकार हुए।

उनके नाम शायद ही कहीं लिखे गये हों, उनकी चर्चा शायद ही कहीं होती हो।

किन्तु ईसाई-धर्म उन्हींके पुण्य-प्रताप से फल-फूल रहा है।

वे नींव की ईंट थे, गिरजाघर कलश उन्हींकी शहादत से चमकते हैं !

आज हमारा देश आज़ाद हुआ—सिर्फ़ उनके बलिदानों के कारण नहीं, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है।

देश का शायद ही ऐसा कोई कोना हो, जहां कुछ ऐसे दधीचि नहीं हुए हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया।

हम जिसे देख नहीं सकें, वह सत्य नहीं है, यह है मूढ़ धारणा ! ढूंढ़ने से ही सत्य मिलता है ! हमारा काम है, धर्म है, ऐसी नींव की ईंटों की ओर ध्यान देना।

◇ ◇ ◇

सदियों के बाद नये समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला क़दम बढ़ाया है।

इस नये समाज के निर्माण के लिये ही हमें नींव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कंगूरा बनने के लिये चारों ओर होड़ाहोड़ी मची है, नींव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है !

सात लाख गाँवों का नव-निर्माण ! हज़ारों शहरों और कारखानों का नव-निर्माण ! कोई शासक इसे सम्भव कर नहीं सकता ! ज़रूरत है ऐसे नौजवानों की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें।

जो एक नई प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत, जो शाबाशियों से दूर हों, दलबंदियों से अलग।

जिनमें कंगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिनमें वासना न हो। सभी कामनाओं से दूर—सभी वासनाओं से दूर।

उदय के लिए आतुर हमारा समाज चिल्ला रहा है—हमारी नींव की ईंटें किधर हैं ?

देश के नौजवानों को यह चुनौती है !

लेखक-परिचय

लेखक-परिचय

१. राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद—

डा० राजेन्द्रप्रसाद जी का जन्म ३ दिसम्बर, १८८४ को जीरादेई—सारन—में हुआ। जीरादेई में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् पटना और कलकत्ता से उच्च शिक्षा प्राप्त की।

१९१७ में चम्पारन सत्याग्रह के समय गांधी जी के सम्पर्क में आए और वकालत छोड़कर स्वतन्त्रता-आन्दोलन में जुट गए। कई बार कांग्रेस के सभापति बने। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार के खाद्यमन्त्री, विधान सभा के अध्यक्ष और अब भारत गणराज्य के राष्ट्रपति हैं। आप भारत के सर्वाधिक गौरवपूर्ण पद पर आसीन होते हुए भी विनम्रता और सादगी के अवतार हैं। शिक्षा, समाज-सेवा, राजनीति और साहित्य सभी क्षेत्रों में आपने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है।

आत्म-कथा, खण्डित भारत, चंपारन सत्याग्रह आदि के आप यशस्वी लेखक हैं।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का जन्म १९०७ में ओझावालिया में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। आप संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ आलोचक और भक्तिशाखा के मननशील अध्येता हैं। हिन्दी के भण्डार को कई शोधपूर्ण ग्रन्थों से भरने का

श्रेय आपको प्राप्त है। शिक्षाशास्त्री के रूप में भी आपको पर्याप्त ख्याति मिली है। आप शान्तिनिकेतन में अध्यापक, और विश्वभारती पत्रिका के सम्पादक रह चुके हैं। आजकल आप हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में अध्यक्ष हिन्दी-विभाग हैं और कई साहित्यिक संस्थाओं के माननीय सदस्य हैं।

कबीर, हिन्दी-साहित्य की भूमिका, बाणभट्ट की आत्मकथा, प्राचीन भारत का काव्यविलास, अशोक के फूल, विचार और वितर्क आदि आपकी प्रमुख रचनाएं हैं।

३. प्रेमचन्द—

श्री प्रेमचन्द जी का जन्म काशी के निकट एक छोटे-से गांव लमही में, १८८० में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। आर्थिक कठिनाइयों के कारण शिक्षा को अधूरा छोड़कर आपने अध्यापन कार्य शुरू किया और साथ-साथ अध्ययन भी करते गये और बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। पश्चात् आप शिक्षा-विभाग में सब इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। साहित्य की ओर आपका झुकाव बचपन से ही था। बाद में असहयोग आन्दोलन के समय बीस वर्ष की सरकारी नौकरी को छोड़कर उसमें सम्मिलित हो गये।

पहले आपने उर्दू में लिखना प्रारम्भ किया और बाद में हिन्दी में लिखने लगे। प्रेमचन्द जी ने कहानी, उपन्यास, नाटक सभी कुछ लिखा। उन जितना और उन जैसा लिखने वाला दूसरा लेखक शायद ही कोई हो।

गोदान, कायाकल्प, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, सेवासदन आदि आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। मानसरोवर नाम से आठ भागों में उनकी कोई तीन सौ कहानियां संग्रहीत हैं। प्रेम की वेदी, कर्बला और संग्राम उनके नाटक हैं।

४. राहुल सांकृत्यायन—

महापण्डित राहुल जी का जन्म १८९५ में आजमगढ़—उत्तरप्रदेश—में हुआ। बौद्ध-दर्शन और साहित्य के आप प्रकांड पंडित हैं। घुमक्कड़ों में आप अग्रणी हैं। अनेक बार आप सुदूर देशों की यात्रा कर चुके हैं। अपने देश की हिमालय पर्वत-माला में आप खूब घूमे हैं। बौद्ध-साहित्य के विशेष अध्ययन के लिए आप कई बार तिब्बत गए और वहाँ से अनेक बौद्ध ग्रन्थ लाए। रूस में आप अध्यापक रहे। आपकी लेखनी से प्रभूत मात्रा में यात्रा-साहित्य का सृजन हुआ है। आप हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं।

आप अनेक भाषाओं के विद्वान्, प्रगतिशील लेखक और अनेक विषयों के अधिकारी विद्वान् हैं। आपने अनेक पुस्तकों के हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी साहित्य के भंडार को भरा है। पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में भी आपका कार्य प्रशंसनीय है। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, दर्शन, राजनीति, यात्रा आदि अनेक विषयों की आपकी रचनाएं उपलब्ध हैं।

बोल्गा से गंगा, मज्झिम निकाय, दीर्घ निकाय, विनयपिटिक, मेरी यूरोप यात्रा, हिमालय परिचय, सोने की ढाल, दर्शन-दिग्दर्शन आदि आपकी कुछ प्रमुख रचनाएं हैं।

५. भदन्त आनन्द कौसल्यायन—

श्री भदन्त जी का जन्म १९०५ में अम्बाला—पंजाब—में हुआ। पंजाब विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् १९२८ में बौद्धभिक्षु बने। बौद्ध साहित्य का अध्ययन, मनन और शोध आपने विशेष रूप से की है। आप राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य भक्त हैं। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के कई वर्ष मन्त्री रहे। हिन्दी के संस्मरण लेखकों में आप अग्रणी हैं।

एशिया और यूरोप के कई देशों की आपने यात्रा की है। बौद्ध देशों की यात्रा कर आपने बौद्ध-धर्म और साहित्य की पर्याप्त सेवा की

है। कई बौद्ध ग्रन्थों का आपने हिन्दी में अनुवाद किया है। आपकी भाषा सरल और शैली प्रवाहमयी है। व्यंग्य आपके साहित्य की विशेषता है।

जो न भूल सका, बहानेबाज़ी, बुद्धवचन, जातक आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

६. महावीरप्रसाद द्विवेदी—

आचार्य द्विवेदी जी का जन्म दौलतपुर—उत्तर प्रदेश—में सन् १८७५ में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में प्राप्त करने के पश्चात् रायबरेली और उन्नाव में पढ़ते रहे। रेलवे में १५ रु० मासिक की नौकरी से उन्नति करते-करते चीफ-क्लर्क बने और फिर उसे छोड़कर 'सरस्वती' के सम्पादक बने और सत्रह वर्ष तक उसका सम्पादन करते रहे। १९३८ में हिन्दी-साहित्य का यह महारथी इस लोक से सिधार गया।

द्विवेदी जी गद्य और पद्य दोनों में साहित्य रचना करते रहे। हिन्दी गद्य के विकास में तो द्विवेदी जी युगप्रवर्त्तक ही थे।

नैषध-चरित-चर्चा, हिन्दी कालिदास की समालोचना, कालिदास की निरंकुशता, नाट्य-शास्त्र आदि आपकी प्रमुख गद्य रचनाएँ तथा काव्य-मंजूषा, कविता-कलाप, नागरी आदि काव्यकृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तथा कई फुटकर लेखों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

७. बाबू गुलाबराय—

श्री गुलाबराय जी का जन्म १८८७ में इटावा में हुआ। मैनपुरी में दसवीं कक्षा पास करके आगरा से एम. ए., एल. एल. बी. की उपाधि प्राप्त की और अध्यापक बने। कुछ दिन वकालत की, और अब पुनः सेंट जांस कालेज, आगरा में अध्यापक पद पर कार्य कर रहे हैं तथा 'साहित्य-सन्देश' मासिक के सम्पादक हैं। दर्शन आपका प्रिय विषय है। आपका साहित्यिक यश आलोचक और निबन्धकार के रूप में है। आपकी भाषा

सरल-सुबोध तथा शैली प्रसाद गुण-युक्त है।

फिर निराशा क्यों, नवरस, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, मेरी असफलताएं, हिन्दी नाट्य विमर्श, काव्य के रूप, सिद्धान्त और अध्ययन, मन की बात, मेरे निबन्ध : जीवन और जगत आदि आपकी ख्याति प्राप्त कृतियाँ हैं।

८. पं० जवाहरलाल नेहरू—

श्री नेहरू जी का जन्म १४ नवम्बर, १८८९ में इलाहाबाद में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर प्राप्त करने के पश्चात् लन्दन के हेरो और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बैरिस्टर की उपाधि प्राप्त की।

१९१८ से आप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में सम्मिलित हुए और कई बार जेल गए।

आप भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के अग्रणी सेनानी, विश्वविख्यात साहित्यकार और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के राजनीतिज्ञ हैं। १९४७ से भारत के प्रधान मन्त्री और विदेशमन्त्री हैं।

मेरी कहानी, हिन्दुस्तान की कहानी और विश्व इतिहास की झलक आपकी ख्याति-प्राप्त कृतियां हैं।

९. वियोगी हरि—

श्री वियोगी हरि का जन्म १८९३ ई० में छतरपुर में हुआ। छतरपुर और पन्ना में आपने शिक्षा पाई। साहित्य की ओर आपकी रुचि बाल्यकाल से ही है। १९३२ में आप गांधी जी के सम्पर्क में आए और तब से हरिजन सेवक संघ का संचालन कर रहे हैं।

हिन्दी के विकास में आपका योगदान प्रशंसनीय है। आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं। ब्रजभाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। सम्मेलन-पत्रिका और हरिजन सेवक के आप सम्पादक रह चुके हैं। आप अच्छे गद्य-काव्य लेखक, कवि और समालोचक हैं। व्यंग्य आपके लेखन की विशेषता है।

वीर सतसई नामक काव्यकृति पर आपको मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिल चुका है। ब्रजमाधुरी सार, प्रेम योग, मेरा जीवन-प्रवाह, मेरी हिमाकत आदि आपकी प्रमुख रचनाएं हैं।

१०. श्रीमन्नारायण अग्रवाल

श्रीमन्नारायण जी का जन्म जुलाई, १९१२ में हुआ। एम. ए. तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 'सब की बोली' और 'राष्ट्रभाषा प्रचार' के सम्पादक रहे। कुछ समय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रधान मंत्री रहे। कांग्रेस के आन्दोलनों और कार्य में पूरे उत्साह और मनोयोग से काम किया। आजकल आप अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के महामन्त्री के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर कार्य कर रहे हैं।

आपकी भाषा सुबोध तथा शैली प्रभावपूर्ण है। दैनिक जीवन की कोई भी छोटी-सी घटना आपकी लेखनी से चमक उठती है और जीवन के लिए प्रेरक बन जाती है।

सेगांव का संत, रोटी का राग, मानव तथा जुगनू आदि आपकी प्रकाशित रचनाएँ हैं।

११. रामधारीसिंह दिनकर—

श्री दिनकर जी का जन्म ३० सितम्बर, १९०८ ई० को सिमरिया, बिहार, में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा गांव में और तदनन्तर पटना कालेज में उच्च शिक्षा पाई। आप क्रमशः अध्यापक, सब-रजिस्ट्रार और प्रचार-विभाग के उपनिर्देशक के पद पर कार्य करते रहे। पश्चात् लंगटसिंह कालेज में हिन्दी के विभागाध्यक्ष रहे। सन् १९५२ में संसद के सदस्य निर्वाचित हुए, जिस पद पर विद्यमान हैं।

आप सर्वतोमुखी प्रतिभा के साहित्यकार हैं। यद्यपि आपका साहित्यिक यश कवि के रूप में है पर आप समीक्षक भी उच्चकोटि के हैं। रेणुका, हुंकार, रसवन्ती द्वन्द्वगीत, कुरुक्षेत्र, सामधेनी, रश्मिरथी आदि काव्य-ग्रन्थ और मिट्टी की ओर, अर्धनारीश्वर, रेती के फूल,

संस्कृति के चार अध्याय गद्य के गौरव ग्रंथ हैं।

१२. आचार्य विनोबा भावे—

आचार्य विनोबा भावे का जन्म ११ सितम्बर, १८९५ को गागोरा —महाराष्ट्र—में हुआ। गागोरा में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् बड़ौदा और काशी में उच्च शिक्षा पाई। श्री भावे सोलह के लगभग देशी और विदेशी भाषाओं के विद्वान् हैं। लेखन की ओर आपका झुकाव बाल्यकाल से है। १९१६ में आप गांधी जी के सम्पर्क में आने के पश्चात् स्वातन्त्र्य आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग लेते रहे और कई बार जेल गए। आप आधुनिक भारतीय सन्तों में अग्रणी हैं। मौलिक विचार और विचार के अनुसार व्यवहार आपकी विशेषता है। सर्वोदय समाज की विचारधारा के आप व्याख्याता और प्रचारक हैं।

आजकल आप भूदान आन्दोलन के सिलसिले में पैदल देश के गाँव-गाँव में घूमकर भूमिहीनों के लिए भूमि जुटाने में लगे हुए हैं।

गीता प्रवचन, स्थितप्रज्ञ दर्शन, विनोबा के विचार, विचार पोथा आदि आपकी प्रसिद्ध लोकप्रिय कृतियाँ हैं।

२३. वासुदेवशरण अग्रवाल—

श्री वासुदेव जी का जन्म १९०४ ई० में हुआ। एम. ए., एल-एल. बी. करने के पश्चात् आपने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। आप इतिहास और पुरातत्व के मर्मज्ञ विद्वान् हैं तथा भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। भारतीय मनीषी विचारकों में आपका महत्वपूर्ण स्थान है।

जनपद साहित्यान्दोलन के आप प्रवर्तक हैं। भारतीय जीवन-दर्शन और संस्कृति के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन आपने किया है।

उरु ज्योति, पृथ्वीपुत्र, पाणिनिकालीन भारत आदि आपकी चिन्तन-प्रधान साहित्यिक कृतियाँ हैं।

१४. श्रीमती सत्यवती मलिक

श्रीमती सत्यवती जी का जन्म १९०५ में हुआ। लेखन के अतिरिक्त चित्रकला में भी आपकी समान रुचि है। आपकी समर्थ लेखनी से गार्हस्थ्य जीवन के बड़े ही मनोहर चित्र प्रसूत हुए हैं। विशेष रूप से वात्सल्य के। कहानी के अतिरिक्त आपने उच्चकोटि के रेखाचित्र भी लिखे हैं। स्वाभाविकता आपकी लेखन-शैली की विशेषता है।

अमिट रेखाएँ, दो फूल आदि आपकी सुन्दर कृतियां हैं।

१५. बनारसीदास चतुर्वेदी—

श्री चतुर्वेदी जी का जन्म १८९२ में फर्रुखाबाद में हुआ। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् पहले फर्रुखाबाद में और बाद में इन्दौर में अध्यापन-कार्य करते रहे। बाद में 'विशाल भारत' के सम्पादक बने। कई सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक आन्दोलनों से सम्बन्धित रहे। जनपद साहित्य के प्रवर्तकों में आपका स्थान महत्वपूर्ण है। आजकल आप संसद सदस्य के पद पर आसीन हैं।

आपका यश पत्रकार और रेखाचित्र-लेखक के रूप में है।

मेरे आराध्य, रेखाचित्र, संस्मरण आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

१६. रामबृक्ष बेनीपुरी—

श्री बेनीपुरी जी का जन्म १९०१ में हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में आपकी पहली रचना 'प्रताप' में छपी। आप लगभग दस पत्रों के सम्पादक रहे। आप बहुमुखी प्रतिभा के कलाकार हैं। उपन्यास, नाटक, एकांकी, शब्दचित्र, यात्रा-वर्णन और आलोचना, सभी कुछ आपने बहुत बढ़िया लिखा है।

आजकल आप 'नई धारा' के सम्पादक हैं। भाषा पर आपका असाधारण अधिकार है। माटी की मूरतें, पैरों में पंख बाँधकर, पतितों के देश में, तथागत, अंबपाली, जंजीरें और दीवारें आदि आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं।